

जैन एवं बौद्ध तत्त्वमीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन

भागचंद जैन भास्कर

‘तत्त्व’ किसी भी धर्म और दर्शन की मूल भित्ति है। अतः सभी दर्शनों ने ‘तत्त्व’ की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। वस्तु के असाधारण स्वतत्त्व को ‘तत्त्व’ कहा जाता है^१। तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, परम, परमपरम, ध्येय, शुद्ध—ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं^२। जैन एवं बौद्धधर्म ने इसके लिए ‘सत्’ शब्द का भी प्रयोग किया है।

जैनधर्म में मूलतः दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप ये सात तत्त्व अथवा सात पदार्थ जीव और अजीव की ही पर्याय हैं।

बौद्धधर्म में आचार्य अनुरुद्ध ने प्रज्ञप्त्यर्थ और परमार्थ की बात करते हुए परमार्थ को चतुर्विध बताया है—चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण। यहाँ प्रज्ञप्त्यर्थ कल्पित है, भ्रमजनित है, अतः व्यावहारिक धर्म है तथा परमार्थ को वास्तविक धर्म की संज्ञा दी गई है।^३ ये चारों परमार्थ एक दूसरे से गुंथे हुए हैं, फिर भी तुलना की दृष्टि से हम इन्हें क्रमशः आत्मा, कर्म, द्रव्य और मोक्ष के साथ रख सकते हैं। ये चार परमार्थ बौद्धधर्म के तत्त्व कहे जा सकते हैं। एक अन्य प्रकार से चार आर्यसत्यों को चार तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। प्रथम सत्य जीव और कर्म से सम्बद्ध है, द्वितीय सत्य आश्रव और बंध से, तृतीय सत्य मोक्ष से और चतुर्थ सत्य संवर और निर्जरा से सम्बन्धित है।

बौद्धधर्म में वस्तु-सत् को संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। हीनयान में संस्कृत धर्म वस्तु-सत् है, पर महायान उसे शून्य कहता है। महायान में धर्म शून्य है, केवल धर्मता (धर्मकाय) वस्तु-सत् है। क्षणिक संस्कृत धर्मों के अतिरिक्त हीनयान में आकाश और निर्वाण को असंस्कृत धर्म कहा गया है। यहाँ संसार और निर्वाण, दोनों वस्तु-सत् हैं और प्रज्ञप्ति-सत् भी हैं। महायान में वस्तु को शान्त, अद्रव्य, अवाच्य, विकल्पातीत और निष्प्रपञ्च कहा गया है। उसको दृष्टि से जो परतन्त्र है, वह वस्तु नहीं है। अतः संस्कृत-असंस्कृत पदार्थ वस्तु-सत् नहीं हैं। वे तो शून्यता के प्रतीक हैं। इसप्रकार हीनयान का बहुधर्मवाद महायान में अद्रव्यवाद बनकर आया है।

जैन दर्शन में इतना अधिक सैद्धान्तिक विकास नहीं दिखाई देता। इसका मूल कारण यह है कि बौद्ध दर्शन के विकास में जो तत्त्व एकत्रित हुए हैं, वे तत्त्व जैन दर्शन की पृष्ठभूमि में नहीं पनप सके। जैन दर्शन का विकास बौद्ध दर्शन के विकास की तुलना में एक अत्यन्त मन्थर गति लिये हुए दिखाई देता है। आगे के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

१. राजवार्तिक, २, १, ६.।

२. नयचक्र, ४।

३. अभिव्यक्त्यसंग्रहो, पञ्चम परिच्छेद।

द्रव्य-व्यवस्था

द्रव्य का स्वरूप सतत मंथन का विषय रहा है। जैन दार्शनिक वास्तव में बहुतत्त्ववादी (Realistic pluralism) हैं। उनके अनुसार प्रत्येक परमाणु परमार्थ, अखण्ड, स्वतन्त्र और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। बौद्ध उसे स्वलक्षणात्मक मानते हैं, पर उसका प्रत्यक्ष कल्पनाजन्य अथवा भ्रमित स्वीकार करते हैं। सांख्य जड़ और चेतन को पृथक् तो मानते हैं, पर वे एक दूसरे के प्रति उनमें परिणामीकरण नहीं मानते। न्याय-वैशेषिक पृथ्वी आदि सभी द्रव्यों को स्वतन्त्र मानते हैं और बेदान्ती उन्हें ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता की प्रतीति समझते हैं।

जिस प्रकार जैनदर्शन ने तत्त्व के सम्यग्दर्शन एवं ज्ञान को मोक्ष के कारणों में अन्यतम माना है, उसी प्रकार बौद्धदर्शन ने भी धर्मप्रविचय को निर्वाण का कारण प्रतिपादित किया है। धर्मप्रविचय प्रज्ञा पर आधारित है और प्रज्ञा वह है, जो सास्त्रव-अनास्त्रव का भेद कर सके। जो स्वलक्षण करता है, वह धर्म है और धर्म ही पुण्यों के समान व्यवकीर्ण हैं, जिन्हें प्रज्ञा के माध्यम से विभाजित किया जाता है।

जैनधर्म ने तत्त्व के मूलतः दो भेद किये हैं—जीव और अजीव। बौद्धधर्म ने भी दो भेद किये हैं, पर उसने अनात्मवादी होने के कारण वैसे भेद न करके उन्हें संस्कृत और असंस्कृत के रूप में विवेचित किया है। संस्कृत में जाति (उत्पत्ति), जरा (वृद्धत्व या ह्लास), स्थिति और अनित्यता ये चार लक्षण होते हैं। रूपादि पञ्चस्कन्ध संस्कृत कहे गये हैं। समग्र रूपविधान में तत्त्व के स्थान पर 'रूप' का भी प्रयोग हुआ है। असंस्कृत अनास्त्रव धर्म-आकाश, प्रतिसंख्याननिरोध और अप्रति-संख्याननिरोध हैं।

रूप के लक्षण के प्रसंग में उसे उपचय (उत्पाद), संतति, जरता (स्थिति) एवं अनित्यतामय माना है।^१ इसी को अहेतुक, सप्रत्यय, सास्त्रव, संस्कृत, लौकिक, कामावचर, अनालंबन और अप्रहातव्य कहा है।^२ उपचय एवं संतति उत्पत्ति का प्रतीक है, जरता स्थिति का और अनित्यता भंग का प्रतीक है। यहाँ सम्बद्ध वृद्धि को 'सन्तति' कहा गया है, जिसका सम्बन्ध उत्पत्ति के साथ अधिक है। उत्पत्ति के बाद निष्पन्न रूपों के निरुद्ध होने से पूर्व ४८ क्षुद्रक्षण मात्र के स्थितिकाल को जीर्ण स्वभाव होने से 'जरता' कहा जाता है। प्रत्येक क्षण में उत्पाद, स्थिति और भंग नामक तीन क्षुद्रक्षण होते हैं। रूप का एक क्षण चित्तवीथि के १७ क्षणों के बराबर होता है। इन १७ क्षणों में भी क्षुद्रक्षण ५१ होते हैं, जिनके बराबर रूप का एक क्षण होता है। इन ५१ क्षुद्रक्षणों में से सर्वप्रथम उत्पाद क्षण को और अंतिम भंगक्षण को निकाल देने पर चित्त के ४८ क्षुद्रक्षण के बराबर रूप की जरता का काल होता है। एक चित्तक्षण में ये उत्पाद-स्थिति-भंग इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रवृत्त होते हैं कि एक अच्छरा काल (चुटकी बजाने या पलक मारने के बराबर समय) में ये लाखों करोड़ों बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते हैं। इन उत्पाद-व्यय भङ्ग स्वभावो रूपों को 'संस्कृत' कहा जाता है।

संस्कृत पदार्थ में परिवर्तन की शीघ्रता अन्वय की भ्रान्ति पैदा करती है। उसे ही स्थायी कह देते हैं—अन्वयवशात्। वस्तुतः प्राणो का जीवन विचार के एक क्षण तक रहता है। उस क्षण

१. अभिघम्मत्थसङ्गहो, ६.१५.। २. वही, ६.१९.।

के समाप्त होते ही प्राणी भी समाप्त हो जाता है।^१ इसे 'भेदवाद' कहते हैं। वैभाषिक-सौत्रान्तिक भेदवादी हैं। क्षणभङ्गवाद उनका परम सत्य है। वे धर्मनैरात्म्य (बाह्य पदार्थ क्षणिक और निरंश परमाणुओं का पुञ्ज है) और पुद्गल नैरात्म्य (अनात्मवाद) को मानते हैं। सारा व्यवहार संततिवाद और संघातवाद पर आश्रित है। संस्कृत पदार्थ प्रतीत्यसमुत्पन्न और अनित्य है। जिस पदार्थ का समुत्पाद सकारण होता है, वह स्वतन्त्र नहीं। अतः माध्यान्तिकवादियों ने पदार्थ को शून्यात्मक कहा है।^२

सूत्रान्तपालि में "जरा मरणं भिक्खवे ! अनिच्चं, सङ्गतं पटिच्चसमुत्पन्नं"^३ में संस्कृत के तीन ही लक्षण दिये गये हैं। यहाँ स्थिति का कोई उल्लेख नहीं। सौत्रान्तिकों की दृष्टि में संस्कृत के लक्षण चार ही हैं। उन्होंने 'जरा' के साथ स्थिति को प्रज्ञप्त किया है। वे वस्तुतः इन लक्षणों को पृथक् द्रव्य न मानकर उन्हें प्रवाह रूप मानते हैं। यह प्रवाह ही उनकी स्थिति का सूचक है। सौत्रान्तिक जीवित-आयु को द्रव्य नहीं मानते। विज्ञानवादी संस्कृत-असंस्कृत धर्मों को प्रज्ञासिम्त् मानते हैं और माध्यमिक उनका निषेधकर निःस्वभावता की सिद्धि करते हैं।

बौद्धदर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण दो तत्त्व माने गये हैं। स्वलक्षण का तात्पर्य है— वस्तु का असाधारण तत्त्व। इसमें प्रत्येक परमाणु की सत्ता पृथक् और स्वतन्त्र स्वीकार की गई है। इसके साथ ही वह सजातीय और विजातीय परमाणुओं से व्यावृत है। परमाणुओं में जब कोई सम्बन्ध ही नहीं, तो अवयवी के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? बौद्धदर्शन में सामान्य तत्त्व को एक कल्पनात्मक वस्तु माना गया है। परन्तु चूँकि वह स्वलक्षण को प्राप्ति में कारण होता है, अतः मिथ्या होते हुए भी उसे पदार्थ की श्रेणी में रखा गया है। मनुष्यत्व, गोत्व आदि को सामान्य तत्त्व कहा गया है। स्वलक्षण तत्त्व अर्थक्रियाकारी है, अतः परमार्थ सत् है। पर सामान्य अर्थ क्रियाकारी नहीं, अतः उसे संवृति सत् माना है।^४ सामान्य को कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं। धर्मकीर्ति ने स्वलक्षण और सामान्य लक्षण के भेद को बड़ी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है^५—

स्वलक्षण

१. अर्थक्रिया में समर्थ
२. असदृश-सर्वतो व्यावृत
३. शब्दाविषय (अवाच्य)
४. स्वातिरिक्त निमित्त के होने पर स्वविषयक बुद्धि का अभाव

सामान्यलक्षण

१. अर्थक्रिया में असमर्थ
२. सदृश-सर्व व्यक्ति साधारण
३. शब्दविषय (वाच्य)
४. स्वातिरिक्त निमित्त के होने पर स्वविषयक बुद्धि का सद्भाव

१. विसुद्धिमग, ८ ।

२. चतुःशतकम्, ३४८ ।

३. संयुत्तनिकाय, द्वितीय भाग, पृ० २४ ।

४. प्रमाणवार्तिक, २-३; तर्कभाषा, पृ० ११ ।

५. प्रमाणवार्तिक, २. १-३, २७-२८, ५०-५४; न्यायविनिश्चय, पृ० २३-२४; न्यायावतार वार्तिक वृत्ति, भाषा टिप्पण, पृ० २११ ।

- | | |
|-------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------|
| ५. परमार्थसत्—अकल्पित | ५. संवृति सत्—कल्पित |
| ६. सस्वभाव | ६. निःस्वभाव |
| ७. वस्तु | ७. अवस्तु |
| ८. असाधारण | ८. साधारण |
| ९. संकेत स्मरणानपेक्षप्रतिपत्तिकत्व | ९. संकेत स्मरणसापेक्षप्रतिपत्तिकत्व |
| १०. सन्निधान-असन्निधान से स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभास भेद का जनक | १०. सन्निधान-असन्निधान से स्फुट या अस्फुट रूप प्रतिभास भेद का अजनक |

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने प्रमाण को द्वैविध्य मानकर प्रमेय को भी द्वैविध्य माना है। इनमें स्वलक्षण प्रत्यक्षगम्य है और सामान्यलक्षण अनुमानगम्य है। अनुमान परोक्ष के अन्तर्गत आता है।

जैनदर्शन प्रमेय भी एक ही मानता है—द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु। वह किसी को स्पष्ट प्रतिभासित होता है और किसी को अस्पष्ट। यह ज्ञाता की शक्ति पर अवलम्बित है। अतः यहाँ भी प्रमेय की प्रतीति प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों रूप से होती है। जैनों का प्रत्यक्ष बौद्धों का स्वलक्षण है और जैनों का परोक्ष बौद्धों का सामान्य है। दोनों मान्यताओं में अन्तर यह है—

१. जैनदर्शन वस्तु को सामान्य-विशेषात्मक मानता है, जबकि बौद्धदर्शन उसका निषेध करता है।
२. जैनदर्शन की दृष्टि में वस्तु का स्वरूप और पररूप, दोनों सापेक्षिक और वास्तविक हैं, जबकि बौद्धों की दृष्टि में दोनों का अस्तित्व होते हुए भी पररूप कल्पित और वासनाजन्य है।
३. कल्पित और वासनाजन्य होते हुए भी बौद्धदर्शन की दृष्टि में पररूप अर्थ से संबद्ध है, पर जैनदर्शन उसे इस स्थिति में अर्थ से कथंचित् असंबद्ध मानता है।
४. बौद्धों ने स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के प्रतिपादन में क्षणभंगवाद की प्रस्थापना की है। जैन भी क्षण-भंगवाद मानते हैं, पर पर्याय की दृष्टि से। यह पर्याय उत्पाद और व्यय का प्रतीक है।

जैनदर्शन का ध्रौव्य बौद्धधर्म का 'सन्तान' कहा जा सकता है। ध्रौव्य में उत्पाद-व्यय के माध्यम से न तो शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का प्रसंग उपस्थित होता है और न उसका दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य रूप से परिणामन होता है। 'सन्तान' भी अपने नियत पूर्वक्षण नियत उत्तरक्षण के साथ कार्यकारण भाव रूप से सम्बद्ध रहते हैं।^१ अन्तर यह है—

१. इस "सन्तान" को बौद्धदर्शन ने पंक्ति और सेना के समान मृषा और व्यवहारतः कल्पित माना है,^२ पर जैनदर्शन ध्रौव्य को परमार्थ सत् मानता है। वह उसे तद्द्रव्यत्व का नियामक प्रस्थापित करता है। हर पर्याय अपने स्वरूपास्तित्व में रहती है। वह कभी न तो द्रव्यान्तर में परिणत हो सकती है और न विलीन हो सकती है।

१. यस्मिन्नेव तु सन्ताने, अहिता कर्मवासना ।

फलं तत्रैव संघत्ते, कापसि रक्तता यथा ॥ तत्त्वसंग्रह पञ्जिका, पृ० १८२ में उद्धृत ।

२. सन्तानः समुदायश्च पंक्तिसेनादिवन्मृषा—बोधिचर्यावतार, पृ० ३३४ ।

२. संतान की अन्तिम परिणति तो निर्वाण में चित्तसंतति की समूलोच्छिन्नता के रूप में द्रष्टव्य है^१। परन्तु द्रव्य का समूलोच्छेद कभी नहीं होता। वह तो अर्थ-पर्याय के रूप में परिणमन करता रहता है।
३. द्रव्य, ध्रौव्य और गुण समानार्थक शब्द हैं। 'ध्रौव्य' या 'द्रव्य' में जो अन्वयांश है, वह 'सन्तान' में नहीं।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जैनदर्शन द्रव्य की अनेकान्तिक व्यवस्था करता है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक द्रव्य अनंतधर्मात्मक है। उसमें कुछ धर्म सामान्यात्मक होते हैं और कुछ विशेषात्मक। सामान्य द्रव्यात्मक हैं और विशेष पर्यायात्मक। सामान्य के दो भेद हैं—तिर्यक् सामान्य (सादृश्यास्तित्व) और ऊर्ध्वता सामान्य (स्वरूपास्तित्व)। इसी प्रकार विशेष के भी दो प्रकार हैं—तिर्यक् विशेष और ऊर्ध्वता विशेष।

बौद्धदर्शन सामान्य को वस्तु सत् नहीं मानता, वह तो उसे कल्पित मानता है। एकाकार प्रत्यय होने से अभेद दिखाई देने लगता है। वस्तुतः उनमें अभेद नहीं, भेद ही है। एकाकार परामर्श होने का कारण विजातीय व्यावृत्ति है। एक ही गो को अगो व्यावृत्त होने से गो कहा जाता है, अपशु व्यावृत्त होने से पशु कहा जाता है, अद्रव्य व्यावृत्त होने से द्रव्य कहा जाता है और असद् व्यावृत्त होने से सत् कहा जाता है। इस प्रकार व्यावृत्ति के भेद से जातिभेद की कल्पना की जाती है। जितनी परवस्तुएँ हों, उतनी व्यावृत्तियाँ उस वस्तु में कल्पित की जा सकती हैं। अतएव सामान्य बुद्धि का विषय वस्तु सत् सामान्य नहीं, किन्तु अन्यापोह ही मानना चाहिए—

एकार्थं प्रतिभासिन्या, भावान्नाश्रित्य भेदतः ।
 पररूपं स्वरूपेण, यया संनियते धिया ॥
 तथा संवृत नानात्वा, संवृत्या भेदिनः स्वयं ।
 अभेदिन इवाभान्ति, भेदा रूपेण केनचित् ॥
 तस्या अभिप्रायवशात्, सामान्यं सत् प्रकोर्तितं ।
 तदसत् परमार्थेन, यथा संकल्पितं तथा ॥^२
 तस्माद् यतो यतोऽर्थानां, व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
 जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते, तद्विशेषावगाहिनः ॥^३

बौद्धों के इस अवस्तरूप सामान्यवाद को जैनों ने स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अनेकान्त-वाद पर आधारित सामान्य की कल्पना की। उनका मत है कि सादृश्य प्रत्यय पर्यायनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ रहता है, अतः अनेक है। तिर्यक्सामान्य एक काल में अनेक देशों में स्थित अनेक पदार्थों में समानता की अभिव्यक्ति करता है और ऊर्ध्वतासामान्य उसके ध्रौव्यात्मक तत्त्व पर विचार करता है। जैनों का यह सामान्यवाद सांख्य के परिणामवाद से मिलता-जुलता है। वेदान्त का

१. दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्, नैवावर्नि गच्छति नान्तरिक्षम् ।

दीपो यथा निवृत्तिमप्युपेतः, स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥—सौन्दरानन्द, १६. २८-२९ ।

२. प्रमाणवातिक, ३, ६७-६९ ।

३. वही, ३, ४०; ३, १३३ ।

चिदब्रह्म और शब्दाद्वैतवाद का शब्दब्रह्म भी लगभग इसी प्रकार का है। नैयायिकों का सामान्य नित्य और व्यापक है, जबकि जैनों का सामान्य अनित्य और अव्यापक है। मीमांसकों का सामान्य अनेकान्तवादी होते हुए भी एकान्तवाद की ओर अधिक झुका हुआ है। बौद्धों ने प्रतीत्यसमुत्पाद के माध्यम से पदार्थ को एकान्तिक रूप से क्षणिक माना। जैनाचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद के स्थान पर उपादानोपादियभाव को मानते हैं। उनका द्रव्य कूटस्थनित्य न होकर अन्वयिपर्याय प्रवाह के रूप में अविच्छिन्न है। यही उसका ऊर्ध्वतासामान्य है। वैशेषिक एवं नैयायिकों के समवायिकरण से इसकी तुलना की जा सकती है।

इस प्रकार जैनदर्शन में द्रव्य को सामान्य-विशेषात्मक और द्रव्यपर्यायात्मक माना गया है। सामान्य-विशेषात्मक विशेषण पदार्थ के धर्मों की ओर संकेत करता है, जबकि द्रव्यपर्यायात्मक विशेषण उसके परिणमन की ओर। दोनों विशेषण पदार्थ की परिणमनशीलता और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता को स्पष्ट कर देते हैं।

इस प्रकार जैनधर्म में द्रव्य का जो स्वरूप निर्दिष्ट है, लगभग वही स्वरूप बौद्धधर्म में भी स्वीकार किया गया है। जैनधर्म के निश्चयनय और व्यवहारनय बौद्धदर्शन के परमार्थ सत् और संवृतिसत् हैं। स्वलक्षण और सामान्यलक्षण भी इन्हीं के नामान्तर हैं। परन्तु यह है कि द्रव्य को 'संस्कृत' स्वरूप मानते हुए भी बौद्धदर्शन, विशेषतः माध्यमिक सम्प्रदाय, उसे निःस्वभाव अथवा शून्य कह देता है। इसकी सिद्धि में उसका कहना है कि संस्कृत रूप से उत्पाद आदि के स्वीकार किये जाने पर उत्पाद, स्थिति और भंग में सभी वस्तुओं की पुनः उत्पत्ति होती है और पुनः उत्पत्ति होने पर उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होगी। जैसे उत्पत्ति के बाद उत्पत्ति होना न्यायोचित है, वैसे भंग का होना भी न्यायोचित है। इसलिए भंग का भी, संस्कृतत्व होने के कारण, उत्पाद, भंग और स्थिति से सम्बन्ध है। अतएव भंग का भी अन्य भंग के सद्भाव से विनाश होगा। उसके बाद होने वाले भंग का भी विनाश होगा। इस प्रकार अनवस्था दोष हो जायेगा और अनवस्था होने पर सभी पदार्थों की असिद्धि हो जायेगी। इसलिए स्वभावतः संस्कृत लक्षणों की सिद्धि नहीं हो सकती। वे शून्य और निःस्वभाव हैं। जो दिखाई देते हैं, वे भी माया के समान हैं—

उत्पादस्थितिभङ्गानां युगपन्नास्ति संभवः ।
क्रमशः संभवो नास्ति, सम्भवो विद्यते कदा ॥
उत्पादादिषु सर्वेषु, सर्वेषां सम्भवः पुनः ।
तस्मादुत्पादवत् भङ्गो, भङ्गवद् दृश्यते स्थितिः ॥^१

द्रव्य रूप भेद

जैन दर्शन में जिस तरह से द्रव्य के भेद-प्रभेद हुए हैं, बौद्धदर्शन में भी उसी तरह से रूप का विस्तार हुआ है। रूप को अभिधम्मत्थसंगहो में पाँच प्रकार से निर्दिष्ट किया गया है—समुद्देश विभाग, समुत्थान, कलाप एवं प्रवृत्तिक्रम। समुद्देश में पृथ्वी, अप, तेज और वायु ये चार महाभूत हैं और उनका आश्रय लेकर उत्पन्न होने वाले रूपों को स्थविरवाद में ग्यारह प्रकार से बताया गया है—

१. चतुःशतकम्, ३६०-३६१ ।

१. भूत रूप ४	पृथ्वी, अप्, तेज और वायु	}	निष्पन्न रूप
२. प्रसाद रूप ५	चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काय		
३. गोचर रूप ५	रूप, शब्द, गंध, रस और स्पृष्टव्य		
४. भाव रूप २	स्त्रीत्व और पुरुषत्व		
५. हृदय रूप १	हृदय वस्तु		
६. जीवित रूप १	जीवितेन्द्रिय (कर्मज रूपों की आयु)		
७. आहार रूप १	कवलीकार आहार		
८. परिच्छेद रूप १	आकाशधातु	}	अनिष्पन्न रूप
९. विज्ञप्तिरूप २	काय एवं वाग्विज्ञप्ति		
१०. विकार रूप ३	लघुता, मृदुता, कर्मण्यता व विज्ञप्तिद्वय		
११. लक्षण रूप ४	उपचय, संतति, जरता एवं अनित्यता		

वसुबन्धु ने रूप के ११ प्रकार एक अलग ढंग से दिये हैं—५ इन्द्रिय, १ इन्द्रियों के विषय और १ अविज्ञप्ति। उन्होंने इसके २० प्रकार भी बताये हैं—

१. मूल जाति के वर्ण ४ नील, लोहित, पीत और अवदात
२. संस्थान ८ दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शात (सम) और विशात (विषम) ।
३. वर्ण ८ अभ्र, धूम, रज, महिका (वाष्प), छाया, आतप, आलोक और अन्धकार ।

कुछ आचार्य 'नभस्' को भी वर्ण मानकर उसकी संख्या २१ कर देते हैं। सौत्रान्तिक संस्थान और वर्ण को पृथक् नहीं मानते, जबकि वैभाषिक मानते हैं। कुछ वैभाषिक आचार्य आतप और आलोक को ही वर्ण मानते हैं, क्योंकि नील, लोहित आदि का ज्ञान दीर्घ, ह्रस्व आदि आकार के रूप में दिखाई देता है। सौत्रान्तिकों के अनुसार यह मान्यता सही नहीं। क्योंकि एक ही द्रव्य उभयथा कैसे हो सकता है और वह वर्ण संस्थानात्मक कैसे हो सकता है ?

जैनधर्म में इन महाभूतों को 'स्कन्ध' कहा गया है। स्कन्ध सामान्य संज्ञा है। बौद्धधर्म इसके ही आश्रय से चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एवं काय को उत्पन्न मानता है, जिन्हें उपादाय रूप कहा गया है। जैन-बौद्धधर्म में इन्हें 'पंचेन्द्रिय' भी कहा जाता है। रूप, रस, गंध, शब्द तथा अप् धातु वर्जित भूतत्रय संख्यात नामक स्पृष्टव्य को "गोचर" रूप कहा है। जैनधर्म में इनमें से कुछ पुद्गल के लक्षण के रूप में आ जाते हैं और कुछ पुद्गल की पर्यायों के रूप में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

चार भूत रूप, ५ उपादाय रूप, ५ गोचर रूप, २ भाव रूप, हृदय रूप, जीवित रूप व आहार रूप, ये अठारह प्रकार के रूप स्वभाव रूप, लक्षण रूप, निष्पन्न रूप, रूपरूप और संमर्षन रूप होते हैं। यहाँ सभाव रूप से द्रव्यवाचक है, परमार्थ रूप से वह सत् स्वभावी है। परन्तु यहाँ परमार्थ रूप से आकाशादि का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया। इन रूपों का लक्षण अनित्यता, दुःखता, अनात्मता तथा उपचय, संतति, जरता नामक उत्पाद, स्थिति और भङ्ग है। आकाशादि में ये लक्षण नहीं पाये जाते। अतः बौद्धधर्म में उन्हें 'अलक्षण रूप' माना गया है। परन्तु जैनदर्शन में आकाश को एक स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

बौद्धदर्शन इस दृष्टि से भेदवादी है और असत्कार्यवादी है। वहाँ किसी भी पदार्थ में अन्वय नहीं पाया जाता। इसलिए क्षणभंगवाद और शून्यवाद जैसे सिद्धान्तों को उसमें चरम सत्य माना गया है। परन्तु जैन 'भेदाभेदवाद' को स्वीकार करता है। जितना सत्य भेद में है, उतना ही सत्य अभेद में है। एक दूसरे के बिना उसका अस्तित्व नहीं। पदार्थ न केवल सामान्यात्मक है और न केवल विशेषात्मक, बल्कि सामान्य-विशेषात्मक है। द्रव्य का यही वास्तविक स्वरूप है। उसका यह स्वभाव है। अनेकान्तात्मक दृष्टि से वह कथञ्चित् भिन्न है और कथञ्चित् अभिन्न। अभेद द्रव्य का प्रतीक है और भेद पर्याय का। द्रव्य और पर्यायों का यह स्वाभाविक परिणमन होता रहता है। उपादान और निमित्त कारणों के माध्यम से पदार्थों का संगठन और विघटन भी होता रहता है। इसके लिए किसी ईश्वर आदि की आवश्यकता नहीं रहती।

पञ्चस्कन्धों को 'संस्कृत' कहा जाता है। स्कन्ध का तात्पर्य है—राशि अर्थात् संस्कृत पदार्थ। संस्कृत के दो भेद हैं—सास्त्रव और अनास्त्रव। उपादान स्कन्ध (लोभ और दृष्टि) सास्त्रव हैं तथा पञ्च स्कन्ध अनास्त्रव हैं।

जैनधर्म में रूप उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ; जिस अर्थ में बौद्धधर्म में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी उसका प्रयोग अनेक अर्थों में यहाँ मिलता है। कहीं चक्षु के द्वारा ग्राह्य शुक्लादि गुणों के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है, जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। कहीं रूप का अर्थ स्वभाव भी है। जैसे अनन्त रूप अर्थात् अनन्त स्वभाव।^१ कहीं-कहीं रूप का अर्थ निर्ग्रन्थ साधुओं की वीतराग मुद्रा भी किया गया है।^२ बौद्धधर्म में वर्णित भूतरूपों को जैनधर्म में एकेन्द्रिय जीवों के आश्रय के रूप में उल्लिखित किया गया है।

वर्ण शब्द का भी अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। जैसे शुक्लादिक वर्ण, अक्षर, ब्राह्मण आदि जाति विशेष, यश आदि।^३ वर्ण नामका एक नाम कर्म भी है, जो पाँच प्रकार का है—कृष्ण, नील, रुधिर, हारिद्र और शुक्ल।^४ यहाँ हरित और कृष्ण का बौद्धधर्मीक वर्णों के अतिरिक्त उल्लेख है। सर्वार्थसिद्धि में हरित के स्थान पर पीत वर्ण नियोजित किया गया है।^५ लेख्या के प्रकरण में इन वर्णों की संख्या छह हो गई है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल।^६

जैनधर्म में संस्थान भी नामकर्म का भेद है। इसका अर्थ है—आकृति। जिसके उदय से औदारिकादि शरीरों की आकृति बनती है, वह संस्थान नामकर्म है। इसके छह भेद किये गये हैं—
१. समचतुस्र (समचक्र), २. न्यग्रोध (ऊपर विशाल और नीचे लघु), ३. स्वाति (ऊपर लघु और नीचे भारी), ४. कुब्ज (कुबड़ापन), ५. वामन और ६. हुँडक (अंगोपांगों की बेतरतीब हुण्ड की तरह रचना)^७। पूज्यपाद ने संस्थान के वृत्त, त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत, परिमण्डल आदि भेद भी किये हैं।^८ इन संस्थानों में बौद्धधर्मीक प्रायः सभी संस्थान अन्तर्भूत हो जाते हैं।

१. राजवार्तिक, १, २७।

२. प्रवचनसार, ता. वृ. गाथा, २०३।

३. भगवती आराधना, वि. गा. ४७।

४. षट्खण्डागम, ६।१, ९-१, सूत्र ३७।

५. सर्वार्थसिद्धि, ५, २३।

६. षट्खण्डागम, १, १, १, सूत्र, १३६।

७. षट्खण्डागम, ६।१, ९१, सूत्र, ३४।

८. सर्वार्थसिद्धि, ५, २४।

शब्द

जो उच्चरित होता है, वह शब्द है—सद् दीयति उच्चारणीयतीति सद्दो। अर्थात् श्रोत्रविज्ञान के आलम्बनभूत सभी जीव-अजीव शब्दों को शब्द कहते हैं। सजीव सत्त्वों के भाव प्रकट करने वाले हँसने, रोने जैसे शब्द चित्त से उत्पन्न होते हैं तथा उदर शब्द, मेघ शब्द आदि बाह्य शब्द ऋतु से उत्पन्न होते हैं।^१ वसुबन्धु ने शब्द आठ प्रकार का बताया है। उनके अनुसार वह मूलतः चार प्रकार का है—उपात्त महाभूतहेतुक (हस्त, वाक्शब्द), अनुपात्तमहाभूत हेतुक (वायु, नदी शब्द) सत्त्वाख्य (वाग्विज्ञप्ति) एवं असत्त्वाख्य (अन्य शब्द)। ये चारों शब्द मनोज्ञ और अमनोज्ञ भी होते हैं। उपात्त वह है, जो चित्त चैत के अधिष्ठान भाव से उपगृहीत अथवा स्वीकृत हो। पंच ज्ञानेन्द्रिय भूत रूप चित्त से उपगृहीत हैं। लोक में इसे सचेतन या सजीव कहा जाता है। कुछ आचार्य प्रथम दो प्रकार के शब्द युगपत् मानते हैं, परन्तु वैभाषिक इसे स्वीकार नहीं करते।

जैनधर्म में शब्द को ध्वनिरूपात्मक माना गया है^२। अकलंक ने शब्द को अर्थाभिव्यक्तिकारक कहा है।^३ यह दो प्रकार का है—भाषात्मक और अभाषात्मक। भाषात्मक शब्द के दो भेद हैं—अक्षरात्मक (संस्कृत, प्राकृत आदि भाषायें) तथा अनक्षरात्मक (द्वीन्द्रियादि के शब्द-रूप एवं दिव्यध्वनि रूप)। अभाषात्मक शब्द दो प्रकार के हैं—प्रायोगिक और वैज्ञानिक। प्रायोगिक शब्द चार प्रकार का है—

१. तत (चमड़े से मटे हुए पुष्कर, भेरी आदि का शब्द)।
२. वितत (तांत वाले वीणा और सुघोष से उत्पन्न होने वाला शब्द)।
३. घन (ताल, भेरी, मृदंग आदि के ताड़न से उत्पन्न होने वाला शब्द)।
४. सौषिर (बांसुरी और शंख आदि के फूकने से उत्पन्न होने वाला शब्द)।

ध्वलाकार ने घोष और भाषा को भी इसी में संयोजित किया है। मेघादि से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैज्ञानिक हैं। ये शब्द स्कंधजन्य हैं। स्कन्ध परमाणुदल का संघात है और वे शब्द स्पर्शित होने से शब्द उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार शब्द नियत रूप से उत्पाद्य है। अतः वह पुद्गल की पर्याय है, आकाश का गुण नहीं।^४

यहाँ सजीव अथवा उपात्त शब्द भाषात्मक शब्द जैसा है तथा अजीव अथवा अनुपात्तिक शब्द अभाषात्मक शब्द जैसा है। अनुपात्त महाभूतहेतुक और वैज्ञानिक, दोनों समानार्थक हैं।

रस और गन्ध

बौद्धधर्म में रस (जिसका आस्वाद किया जा सके) छह प्रकार का है—मधुर, आम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त^५। षट्खण्डागम में लवण को छोड़कर शेष पाँचों रसों को स्वीकार किया गया है।^६ जो अपने आधारभूत द्रव्य को सूचित करे, वह गंध है—गन्धयति अतनो वत्थुं सूचेतीति

१. अभिघम्मत्थसंगहो, ६, ४०।

२. ध्वला, १११, ३३।

३. राजवार्तिक, ५, २४।

४. पंचास्तिकाय, ७९; राजवार्तिक, ५, १८।

५. अभिघम्मत्थसंगहो, ६-६, अभिघर्मकोश, १-१०।

६. षट्खण्डागम, ६, १, ९, १, सूत्र ३९।

गन्धो । यह गंध चार प्रकार का है—सुगन्ध, दुर्गन्ध, उत्कृष्ट (सम) और अनुत्कृष्ट (विषम) । प्रकरण शास्त्र में विषम गंध को न मानकर तीन ही भेद किये गये हैं^१ । जैनधर्म में गंध भी नामकर्म का भेद है । जिस कर्म स्कन्ध के उदय से जीव के शरीर में जाति के प्रति नियत गंध उत्पन्न होता है, उस कर्म स्कन्ध को गन्ध कहा गया है । वह दो प्रकार का है—सुरभि और दुरभि ।^२ सम, विषम जैसे भेद यहाँ नहीं मिलते ।

स्पृष्टव्य

स्पर्श करने योग्य धर्म को 'स्पृष्टव्य' कहा गया है । यह स्पृष्टव्य गुण पृथ्वी, वायु और तेजस् धातुओं में ही होता है, अप् धातु में नहीं, सूक्ष्म न होने के कारण ।^३ शीतल धातु को अप् नहीं, बल्कि शीतल तेजस् माना गया है । अप् धातु के स्पर्शकाल में अप् का ज्ञान भ्रम मात्र है । वस्तुतः अप् में रहने वाली पृथ्वी, वायु अथवा तेजस् धातु का ही सर्वप्रथम स्पर्श होता है, जो मनोद्वार वीथि से जाना जाता है । यह ११ प्रकार का है—महाभूत चतुष्क, श्लक्षणात्व, कर्कशत्व, गुरुत्व, लघुत्व, शीतत्व, जिघत्सा (बुभुक्षा) और पिपासा । यहाँ यह दृष्टव्य है कि स्थविरवाद अप् धातु में स्पृष्टव्य नहीं मानता, पर वसुबन्धु उसे मानते हुए प्रतीत होते हैं ।^४

जैनधर्म में स्पर्श भी नामकर्म का भेद है । उसे आठ प्रकार का बताया गया है—कर्कश, मृदुक, गुरुक, लघुक, स्निग्ध, रुक्ष, शीत और उष्ण । निक्षेप की दृष्टि से स्पर्श के नाम, स्थापना, द्रव्य, एकक्षेत्र, अनन्तरक्षेत्र, देश, कर्मस्पर्श, त्वक्स्पर्श, स्पर्श-स्पर्श, सर्वस्पर्श, बन्धस्पर्श, भवस्पर्श, भावस्पर्श आदि अनेक भेद किये गये हैं । स्पर्श विषयक अनेक रूपाणाओं का भी वर्णन यहाँ मिलता है । इतना विस्तृत वर्णन बौद्धधर्म में नहीं मिलता । बौद्धधर्म में वर्णित ११ प्रकार जैनधर्म में वर्णित ८ प्रकारों से मिलते-जुलते हैं ।

प्रसाररूप

स्वच्छ, अनाविल तथा प्रसन्न रूप को प्रसादरूप कहते हैं । ये प्रसादरूप रूपकलाप ही होते हैं । इनमें एक स्वच्छ धातु होती है, जो सम्बद्ध आलम्बनों को प्रतिभासित करती है ।

चक्षुर्विज्ञान का अधिष्ठान होकर जो सम या विषम आलम्बन को कहने वाले की तरह होती है, उसे चक्षुर्धातु कहते हैं । चक्षुःप्रसाद में चक्षुर्विज्ञान आश्रित होता है । चक्षुर्विज्ञान ही रूपालम्बन के समत्व-विषमत्व को जानते हैं । चक्षुः पिण्ड में जिस स्थान पर प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे ही चक्षुःप्रसाद का स्थान कहते हैं । उसका परिमाण जूँ (यूका) के शिर के बराबर होता है और उसके सात स्तर होते हैं । इसमें दस रूप रहते हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वर्ण, गंध, रस, ओजस्, जीवित तथा चक्षुःप्रसाद । साथ ही चित्तज, ऋतुज, आहारज एवं कर्मज कलाप रूप रहते हैं । इसी प्रकार श्रोत्रादि के विषय में भी समझना चाहिए ।

१. अभिषर्मकोश, १-१० ।

२. सर्वार्थसिद्धि, ५, २३ ।

३. विभावली, पृ० १४९ ।

४. अभिषर्मकोश, १, १० ।

श्रोत्रप्रसाद कर्णकुहर के अन्तर्भाग में मुद्रिका सदृश एक अत्यन्त निगूढ़ स्थान है, जहाँ लोम सदृश तन्तु रहते हैं, उस स्थान पर श्रोत्रप्रसाद कलाप समूह रहता है। नासिका के अन्तर्भाग में अजाक्षुर सदृश एक स्थान विशेष में अनेक घ्राणप्रसाद कलाप रहते हैं। केश, लोम आदि ३२ कुत्सित कोट्टास एवं अकुशल पाप धर्मों का स्थान काय है। कायप्रसाद सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है।

ये पाँचों प्रसाद रूप तृष्णा मूलक कर्मों से उत्पन्न होते हैं और अपने आधारभूत पुद्गल को रूपादि आलम्बनों की ओर आकर्षित करते हैं। इसलिए कामभूमि में रहने वाले सत्व इनके आकर्षण से रूपावलम्बन का दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन और स्पर्श कराते हैं। ये पाँचों इन्द्रियाँ चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञानादि के आश्रयभूत होती हैं^१।

ये सभी रूप अहेतुक (अलोम आदि अव्याकृत हेतुओं से असंप्रयुक्त), सप्रत्यय (कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार में से किसी एक प्रत्यय से उत्पन्न होने वाले), सास्त्रव (लोम, दृष्टि एवं मोह के साथ उत्पन्न होने वाले) संस्कृत, लौकिक, कामावचर, अनालम्बन तथा अप्रहातव्य हैं। इनमें प्रसाद नामक पाँच प्रकार के रूप आध्यात्मिक हैं। ये आध्यात्मिक रूप आत्मा को उद्दिष्ट या अधिकृत करके प्रवृत्त होते हैं अर्थात् आत्मा के रूप में मिथ्या उपादान करके व्यवहृत होते हैं। शेष २३ रूप बाह्य रूप हैं। वे स्कन्ध के उपकारक नहीं होते हैं।

प्रसाद एवं हृदय नामक छह प्रकार के रूपों को 'वस्तुरूप' कहते हैं। ये चित्त-चैतसिकों के आश्रय होते हैं। शेष रूप अवस्तुरूप होते हैं। प्रसाद रूप एवं विज्ञप्तिद्वय नामक सात प्रकार के रूप द्वाररूप हैं, क्योंकि प्रसादरूप चक्षुद्वार आदि वीथियों को उत्पन्न करते हैं तथा विज्ञप्तिद्वय कर्म के उत्पत्ति के कारण (द्वार) होते हैं। शेष रूप अवद्वार रूप हैं। प्रसार (१) भाव (२) तथा जीवित (१) नामक आठ प्रकार के रूप इन्द्रिय रूप हैं। इनका अपने-अपने कृत्यों पर आधिपत्य होता है। शेष अनिन्द्रिय रूप हैं। प्रसाद एवं विषय नामक बारह प्रकार के रूप औदारिक रूप (स्पष्ट प्रतिभासित होने वाले), सन्ति के रूप (ज्ञान द्वारा प्रतिभासित होने वाले) तथा सप्रतिघ्नरूप (अन्योन्य संघट्टन करके वीथिचित्रों को उत्पन्न करने वाले) होते हैं। शेष रूप सूक्ष्म, दूरेरूप तथा अप्रतिघ्नरूप हैं। कर्मज रूप 'उपादिष्ण' (उपादत्त) रूप हैं। वे तृष्णा, दृष्टि आदि लौकिक कुशल या अकुशल कर्मों का आलम्बन करते हैं। कर्मज रूपों से भिन्न चित्रज, ऋतुज एवं आहारज रूप 'अनुपादिन्न' रूप हैं। रूपायतन सन्निदर्शन रूप (रूपालम्बन) है। शेष अनिदर्शन रूप हैं। चक्षुष् एवं श्रोत्र दोनों स्वसमीप अप्राप्त (अघट्टित) आलम्बन का ग्रहण करते हैं तथा घ्राण, जिह्वा एवं काय नाम प्रसाद रूप सम्प्राप्त आलम्बन का ग्रहण करते हैं। इसलिए इन्हें गोचर ग्राहक रूप कहा जाता है। शेष रूप अगोचर ग्राहक हैं। वर्ण, गन्ध, रस, ओजस् एवं भूतचतुष्क ये आठों रूप अविनिर्भोगरूप (पृथक्-पृथक् उत्पन्न होकर पिण्डीभूत होकर अवस्थित रहते हैं। शेष रूप विनिर्भोग रूप हैं।^२

कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार ये चारों तत्त्व रूप के उत्पादक कारण हैं। इन चारों से किस

१. विशेष देखिये, परमत्यदीपिनी, पृ० २३३-३४; विसुद्धिमग्न, पृ० ३०८-११।

२. विस्तार से देखिये, अभिवमत्यसंगहो का छठा उद्देश।

प्रकार रूपों की उत्पत्ति होती है, इसे रूप समुत्थानकलाप में स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार रूप-कलापों की उत्पत्ति, स्थिति और भंग का विवेचन रूपकलापविभाग में उपलब्ध है।

जैन दर्शन में इस प्रकार के रूपकलापों के विषय में इतने विस्तार से चर्चा नहीं मिलती। इनका विषय बहुत कुछ इन्द्रियों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। जैनधर्म में पुद्गल के आठ प्रकार बताये गये हैं—औदारिक, आहार, भाषा, वैक्रियक, मन, श्वासोच्छ्वास, तैजस् और कामर्ण। ये सभी वर्गणा प्रकार उपर्युक्त कलापों से मिलते-जुलते हैं। जीवितेन्द्रिय और चित्त का सम्बन्ध आत्मा (श्वासोच्छ्वास) और मन से है। कायविज्ञप्ति, आहार, वाग्विज्ञप्ति का सम्बन्ध क्रमशः औदारिक, कर्मसमुत्थान का सम्बन्ध क्रमशः औदारिक, आहार, भाषा और कामर्ण वर्गणा से है। तैजस् और वैक्रियक वर्गणा बौद्धदर्शन में नहीं मिलती। जैनदर्शन की स्कन्ध-निर्माण-प्रक्रिया बौद्धदर्शन से काफी सुलझी और व्यवस्थित दिखाई देती है।

इन्द्रिय

बौद्धधर्म में इन्द्रिय वह है, जो अपने संबद्ध कृत्यों में आधिपत्य बनाये रखे^१। जैनधर्म में भी इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों को सेवन करने में स्वतन्त्र बताया गया है। इस दृष्टि से दोनों व्युत्पत्तियाँ लगभग समान हैं। परन्तु जैनाचार्यों ने इन्द्रिय के कुछ और विशेष अर्थों को स्पष्ट किया है—^२

- (i) इन्द्र का अर्थ आत्मा है। अतः उसे जानने में जो निमित्त होता है, वह इन्द्रिय है।
- (ii) सूक्ष्म आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान कराने में जो कारण हो, वह इन्द्रिय है।
- (iii) इन्द्र का अर्थ नामकर्म है, अतः नामकर्म से जो रची गई हो, वह इन्द्रिय है।
- (iv) जो प्रत्यक्ष में व्यापार करती है, वह इन्द्रिय है।
- (v) जो अपने-अपने विषय का स्वतन्त्र आधिपत्य करती हों, वे इन्द्रिय हैं।

ये इन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्श रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। यहाँ मन को ईषत् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। ये पाँचों इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। शरीर नामकर्म से रचे गये शरीर के चित्त-विशेष द्रव्येन्द्रिय हैं। वे दो प्रकार की हैं—निवृत्ति और उपकरण। निवृत्ति का अर्थ है—रचना। इन्द्रियों के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्म-प्रदेशों की रचना को आभ्यन्तर निवृत्ति और तदाकार प्राप्त पुद्गल प्रचय को बाह्यनिवृत्ति कहते हैं। जो निवृत्ति का उपकार करता है, वह उपकरण कहलाता है। नेत्रेन्द्रिय में कृष्ण और शुक्ल मण्डल आभ्यन्तर उपकरण है तथा पलक और दोनों बरौनी आदि बाह्य उपकरण हैं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी विवेचन मिलता है।

इन्द्रिय रूप से परिणत जीव को ही भावेन्द्रिय कहा जाता है। यह दो प्रकार की है—लब्धि और उपयोग। आत्मा के चैतन्य गुण का क्षयोपशम हेतुक विनाश लब्धि है और चैतन्य का परिणमन उपयोग है। भावेन्द्रिय द्रव्यपर्यायात्मक नहीं, बल्कि गुणपर्यायात्मक होती है। ये इन्द्रियाँ ज्ञानावरण के क्षयोपशम से और द्रव्येन्द्रियों के निमित्त से उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियों

१. "अधिपत्तिट्ठेन इन्द्रियं," "इन्द्रं कारेतीति इन्द्रियं",—अट्टसालिनी, पृ० ९९ एवं २४५।

२. धवला, १. १. १.४, पृ. १३५-१३७; सर्वार्थसिद्धि, १. १. ४; राजवातिक, १. १४।

के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। इसलिए भावेन्द्रियाँ कार्य हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कारण हैं। इनमें चक्षु और मन अपने विषय को स्पर्श किये बिना ही जानती हैं, अतः वे अप्राप्यकारी हैं। शेष इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं। घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, और जिह्वा इन चार इन्द्रियों का आकार क्रमशः जौ की नली, मसूर, अतिमुक्तक पुष्प तथा अर्धचन्द्र अथवा खुरपा के समान हैं और स्पर्शान् इन्द्रिय अनेक आकार(रूप) है। इनका विषय क्रमशः गन्ध, वर्ण, शब्द, रस और स्पर्श है। ये मूर्तिक पदार्थ को ही विषय करती हैं, जबकि मन मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों को विषय करता है।

इन इन्द्रियों के क्षेत्र इस प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं—

इन्द्रिय	एकेन्द्रिय	द्वीन्द्रिय	त्रीन्द्रिय	चतुरिन्द्रिय	असंज्ञी पंचे०	संज्ञी पंचेन्द्रिय
१. स्पर्शान्	४०० धनुष	८०० धनुष	१६०० धनुष	३२०० धनुष	६४०० धनुष	९ योजन
२. रसना		६४ धनुष	१२८ धनुष	२५६ धनुष	५१२ धनुष	९ योजन
३. घ्राण			१०० धनुष	२०० धनुष	४०० धनुष	९ योजन
४. चक्षु				२९५४ धनुष	५९०८ धनुष	४७२६२, $\frac{१}{२}$
५. श्रोत्र					८००० धनुष	१२ योजन
६. मन						सर्वलोकवर्ती

बौद्धधर्म में चक्षु आदि की गणना इन्द्रियों, आयतनों (असाधारण कारण), धातुओं तथा प्रसाद रूपों में की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्श (काय) अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में स्वतन्त्र हैं, असाधारण कारण हैं, अपना स्वभाव धारण करते हैं तथा स्पष्ट हैं। इन्हें द्वार भी कहा गया है। इन द्वारों से रूपादि का आलम्बन करने वाली विज्ञान धातुओं की उत्पत्ति होती है। उन्हें द्वारालम्बनतदुत्पन्न कहते हैं।

द्वार	आलम्बन	विज्ञान
चक्षुर्द्वार	रूपालम्बन	चक्षुर्विज्ञान
श्रोत्रद्वार	शब्दालम्बन	श्रोत्रविज्ञान
घ्राणद्वार	गन्धालम्बन	घ्राणविज्ञान
जिह्वाद्वार	रसालम्बन	जिह्वाविज्ञान
कायद्वार	स्पृष्टव्यालम्बन	कायविज्ञान
मनोद्वार	धर्मालम्बन	मनोविज्ञान

जैनधर्म के समान भावेन्द्रियों की कल्पना बौद्धधर्म में नहीं है। पाँचों इन्द्रियावरण के क्षयोपशम को भावेन्द्रिय कहते हैं। बौद्धधर्म में इन्द्रियों को कर्मज कहा गया है। उसी रूपकलाप को

१. धवला, १.१.१.४-११५; मूलाचार, १०९१-९२; सर्वार्थसिद्धि, १.१४; २.१६-१९; गोम्मटसार-जीवकांड, १६५; जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग १।

हम भावेन्द्रिय के साथ किसी सीमा तक बैठ सकते हैं। इनके क्षेत्र का वर्णन बौद्धधर्म में नहीं। आकार का वर्णन मिलता है, पर कुछ अन्तर के साथ। बौद्धधर्म में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण और जिह्वा को क्रमशः यूँका, मुद्रिका, अजाक्षुर तथा कमलदल के समान बताया है तथा जैनधर्म में मसूर, जौ की नली, अतिमुक्तक पुष्प और खुरपा अथवा अर्धचन्द्र के समान कहा है। दोनों परम्पराओं में कोई विशेष मतभेद नहीं है। बौद्धधर्म में जिसे चक्षुर्धातु व चक्षुर्दार कहा है, वह जैन धर्म का निवृत्ति द्रव्येन्द्रिय है। बौद्धधर्म में जिसे चक्षुप्रसाद कहा है, जैनधर्म का वह आभ्यन्तर उपकरण द्रव्येन्द्रिय है। आलम्बन और विज्ञान में कोई विशेष अन्तर नहीं। पञ्चेन्द्रियों के गोचररूपों को जैनधर्म में इन्द्रियों का विषय कहा है।

स्त्रीत्व और पुरुषत्व ये दो भाव रूप हैं। ये दोनों भावरूप प्रतिसन्धिक्रमण से ही स्कन्ध में उत्पन्न हो जाते हैं और कायप्रसाद की तरह संपूर्ण शरीर में व्याप्त होकर विद्यमान रहते हैं। भाव के अनुसार ही उनका लिंग, निमित्त, कुत्त (क्रिया) एवं आकार होता है। हस्त, पाद आदि संस्थान लिंग (नियतचिह्न) हैं, स्मश्रु रहित या युक्त दाढी आदि निमित्त (अनियत चिह्न) हैं, चलनी, चक्की अथवा रथ आदि के साथ क्रीड़ा करना कुत्त (स्वभाव) है तथा विशेष प्रकार का गमन आदि आकम्प (आकार) है।^१ उभयव्यञ्जक योनि का भी कथन मिलता है, जिसमें कहीं स्त्रीत्व का और कहीं पुरुषत्व का प्राधान्य रहता है। स्त्रीभाव और पुरुषभाव रूपों में पुरुषभाव रूप उत्तम तथा स्त्रीभाव रूप हीन माना गया है। कुशल कर्मों से पुरुषभाव और अकुशल कर्मों से स्त्रीभाव की प्राप्ति होती है।^२

जैनधर्म में इन भाव रूपों को वेदकर्म का परिणाम माना गया है। यह वेद कर्म मोहनीय कर्म से उत्पन्न होता है और स्त्रीभाव, पुरुषभाव तथा नपुंसकभाव को प्राप्त होता है। ये तीनों वेद द्रव्यलिङ्ग और भावलिङ्ग के भेद से दो प्रकार के होते हैं। इन्हें नोकषाय जनक कहा गया है। नाम कर्म के उदय से होने वाली शरीर रचना द्रव्यलिङ्ग है तथा आत्मपरिणाम भावलिङ्ग है। अन्तरङ्ग परिणामों के कारण द्रव्य पुरुष को स्त्रीवेद का और द्रव्य स्त्री को पुरुषवेद का उदय देखा जाता है। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यञ्चों में तथा देवों में स्त्री और पुरुष ये दो ही वेद होते हैं, परन्तु कर्मभूमिज मनुष्य एवं पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों में तीनों वेद होते हैं। नारकी जीव नपुंसकवेदी ही होते हैं। पुरुषवेद के कर्म अपेक्षाकृत अधिक शुभ माने जाते हैं।

सिद्धान्तः दोनों में कोई भेद नहीं। वर्णनप्रक्रिया में ही अन्तर है।

हृदयवस्तु को हृदय रूप कहते हैं। इसी के होने पर व्यक्ति कुशल-अकुशल कर्म करता है। पालि त्रिपिटक में हृदयवस्तु के सन्दर्भ में कुछ विशेष जानकारी नहीं मिलती। पर आगे चलकर पट्टान के आधार पर उसे विकसित किया गया है। फलतः उसे मनोधातु और मनोविज्ञानधातु के आश्रयस्थल के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

जीवितेन्द्रिय को जीवित रूप कहा जाता है। यह जीवितेन्द्रिय कर्मज रूपों की आयु है। इसमें कायप्रसाद तथा भावरूप नहीं होते, पर वह सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है। जिससे सहजात धर्म जीवित रहते हैं और जीवन धारण करने में जो अधिपति रहता है, वह जीवितेन्द्रिय कहलाता

१. अभिघम्मत्थसंगहो, ६.७; विभावनी, पृ० १५०।

२. षट्सालिनी, पृ० २५९।

है। त्रैधातुक आयु ही जीवितेन्द्रिय है। यह ऊष्म और विज्ञान का आधार है। शरीर से आयु, ऊष्म और विज्ञान के अलग हो जाने पर शरीर काष्ठवत् अचेतन बन जाता है। यह जीवितेन्द्रिय दो प्रकार की होती है—नाम जीवितेन्द्रिय और रूप जीवितेन्द्रिय। नाम जीवितेन्द्रिय अपने संप्रयुक्त धर्मों का अनुपालन करती है और रूप जीवितेन्द्रिय अपने साथ अत्यन्त कर्मज एवं चित्तज रूपों का अनुपालन करती है।^१ प्राणियों का जीवन इन दोनों जीवितेन्द्रियों पर अवलम्बित है। उदक, धात्री एवं नाविक से इसकी उपमा दी जाती है। यही नाम-रूप धर्मों की निरन्तर प्रवृत्ति (संतति) बनाये रखती है। जब तक कर्म अवशिष्ट रहते हैं, तबतक संप्रयुक्त धर्म निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए यह जीवितेन्द्रिय नाम-रूप स्कन्ध संतति में प्रधान होती है। उसी के अनुपालन-सामर्थ्य से कर्मज रूपों की आयु ५१ क्षुद्रक्षण पर्यन्त होती है। स्थविरवाद में इसे सर्वचित्तसाधारण चैतसिकों में अन्यतम माना गया है।

जीवितेन्द्रिय की तुलना आत्मा से की जा सकती है। आत्मा भी सर्वचित्त साधारण चैतसिक जैसा ही है। अन्तर यह है कि बौद्धधर्म के अनुसार परिनिर्वाण प्राप्त होते ही इसका उच्छेद हो जाता है, जबकि जैनधर्म में आत्मा का उच्छेद कभी नहीं होता। कर्म विनिर्मुक्त होने पर वह विशुद्ध अवस्था में आ जाता है।

कवलीकार आहार वह आहार है, जिसका कवल किया जाता है। अतः समस्त खाद्य पदार्थ कवलीकार आहार हैं। यहाँ आहार में सन्निविष्ट ओजस् को ही आहार रूप माना है^२।

जैनधर्म में उपभोग्य शरीर के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं। यह आहार शरीर नामकर्म के उदय तथा विग्रह गति नाम के उदय के अभाव से होता है^३। जैनागमों में आहार विषयक वर्णन विस्तार से किया गया है। वहाँ आहार के चार भेदों का वर्णन मिलता है—कर्माहारादि, खाद्यादि, कांजी आदि तथा पानकादि। कर्माहारादि में कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेप्याहार, ओजाहार और मानसाहार का समावेश है^४। यहाँ कवलाहार और ओजाहार का सम्बन्ध बौद्धधर्म में उल्लिखित कवलीकार आहार और उसके ओजस् आहार से स्पष्ट है। जैनधर्म में “अहंतु कवलाहार करते हैं या नहीं” यह एक विवाद का विषय रहा है। बौद्धधर्म में इस प्रकार की किसी समस्या का उल्लेख नहीं।

अठारह प्रकार के ये रूप स्वभावरूप, सलक्षणरूप, रूपरूप एवं संमर्शनरूप कहे जाते हैं। इनमें अनित्यता, दुःखता, अनात्मता तथा उपचय, संतति, जरता एवं अनित्यता रूप द्रव्य सत् कहलाते हैं। इन्हें भाव भी कहते हैं।^५ जैनधर्म में भी इनके लिए द्रव्य, सत् और भाव शब्दों का प्रयोग हुआ है।

बौद्धदर्शन की यह रूप की कल्पना रूप के गुणत्व पर आधारित है। उसके अनुसार गुण से व्यतिरिक्त गुणी की अवस्थिति किसी भी तर्क से सिद्ध नहीं होती, पर जैनदर्शन इसमें कथञ्चित् भेद मानता है।

१. परमत्पदीपिनो, पृ० २३७; विशुद्धिमग, पृ० ३१२।

२. अभिघम्मत्थसंगहो, ६-१०; विसुद्धिमग, पृ० ३१३; अट्टसालिनी, पृ० २६५-६।

३. राजवातिक, ९.७।

४. अभिघम्मत्थसंगहो, ६-११।

५. मूलाचार, ६७६; भगवती आराधना, ७००; अनागार धर्माभूत, ६.७३।

कुछ धातुएँ या रूप ऐसे होते हैं, जो स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें अनिष्पन्न रूप कहा जाता है। इनकी संख्या दस है—परिच्छेद रूप आकाश, विज्ञप्तिद्वय (कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति), विकाररूप तीन (रूप की लघुता, मृदुता और कर्मण्यता) तथा लक्षणरूप चार (रूप का उपचय, संतति, जरता एवं अनित्यता)। ये परमार्थ सत् नहीं अपितु प्रज्ञप्तिसत् द्रव्य हैं।

आकाशधातु परिच्छेदरूप है। वह चार प्रकार का है—१. अजराकाश, २. परिच्छिन्नाकाश, ३. कसिणुग्घाटिकाकाश और ४. परिच्छेदाकाश। इनमें अजराकाश जैनधर्म का अलोकाकाश है और शेष तीन प्रकार लोकाकाश के रूप में समाहित किये जा सकते हैं।

विज्ञप्तिद्वय शरीरादि की हलन-चलन से संबद्ध हैं। बौद्धधर्म ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार कर उसे प्रज्ञप्तिसत् कह दिया। परिणामतः उसकी हलन-चलन आदि क्रियाओं को भी प्रज्ञप्तिसत् कहना पड़ा। उसे विकार रूपों में भी अन्तर्भूत किया गया है।

चित्त और मन

इस प्रसंग में चित्त और मन पर विचार किया जाना अपेक्षित है। श्रमण साहित्य में दोनों शब्द लोकप्रिय रहे हैं, फिर भी बौद्धधर्म ने चित्त शब्द का प्रयोग अधिक किया है और जैनधर्म ने 'मन' का।

बौद्धधर्म में चित्त के साथ ही मन और विज्ञान शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं—“चित्तं इति पि, मनो ति पि विञ्ज्राणं इति पि”^१ जो कुशल-अकुशल कर्मों का संचय करता है, वह चित्त है (चिनोति)। यही चित्त मनन करता है (मनुते), जो अपर चित्त का आश्रयभूत है, यही चित्त अपने आलंबन को जानता है, जो इन्द्रिय और आलंबन पर आश्रित है। ये तीनों शब्द चित्त की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट करते हैं। यह चित्त रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पृष्टव्य तथा धर्म नामक विषयों पर उत्पन्न होता है तथा पुनः उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाता है। यही उसकी अनवरत प्रक्रिया उसकी चंचलता को सूचित करती है।^२ चित्त की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था को स्पष्ट करते हुए बुद्ध ने मन को ही प्रधानता दी है।^३ षड्विज्ञान और मन को मिलाकर सप्त धातुओं की बात कही गई है। विज्ञान की उत्पत्ति विषय और प्रसादरूप के संघट्टन से होती है। मन को आयतन, इन्द्रिय और द्वार भी कहा गया है।

विज्ञानवाद में इस सिद्धान्त का कुछ और विकास हुआ, वहाँ विज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया—आलयविज्ञान, मनोविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। इसका विवेचन आत्मा और कर्म का विवेचन करते समय किया जायगा।

जैनधर्म में चित्त, मन और विज्ञान का प्रयोग हुआ है। आत्मा का चैतन्य विशेष रूप परिणाम 'चित्त' कहलाता है।^४ यह हेयोपादेय का विचार करता है। बोध, ज्ञान और चित्त ये तीनों

१. संयुक्तनिकाय, भाग २, पृ० ९४।

२. फन्दनं चपलं चित्तं, दुरक्खं दुप्पिचारयं—धम्मपद, चित्तवग्ग, १।

३. मनो पुब्बंगमाधम्मा—धम्मपद, १. १-९।

४. सर्वार्थसिद्धि, २. ३२।

शब्द समानार्थक हैं।^१ ज्ञान को विज्ञान भी कहा गया है, जो आत्मा के गुण हैं। बौद्धधर्म के चित्त और विज्ञान भी आत्मा का वही कार्य करते हुए दिखाई देते हैं।

जैनदर्शन में मन को आभ्यन्तर इन्द्रिय माना गया है। उसे अतीन्द्रिय और अन्तःकरण भी कहा जाता है। यह मन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमन और भावमन। हृदय स्थान में अष्ट पांखुड़ी के कमल के आकार रूप पुद्गलों की रचना विशेष द्रव्यमन है। सूक्ष्म होने के कारण इसे 'ईषत् इन्द्रिय' भी कहा जाता है। संकल्प-विकल्पात्मक परिणाम रूप ज्ञान की अवस्था विशेष को भावमन कहते हैं। भावमन ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान जीव का गुण होने से आत्मा में अन्तर्भूत हो जाता है।^२

बौद्धधर्म में मन को इन्द्रियों के अन्तर्गत रखा गया है, पर जैनधर्म उसे इन्द्रिय नहीं मानता। इसका मूल कारण यह है कि यहाँ आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहा गया है। जिस प्रकार शेष इन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है, उस प्रकार मन का नहीं होता। इसलिए उसे इन्द्रिय का लिंग नहीं कह सकते।^३

जीव अथवा आत्मा

जैनधर्म विशुद्ध आत्मवादी धर्म है, जबकि बौद्धधर्म अनात्मवादी अथवा निरात्मवादो। बौद्धधर्म की निरात्मवादिता उसके विकास के इतिहास में प्रतिबिम्बित होती है।^४ उसने आत्मा को वस्तु सत् नहीं माना, बल्कि उसे प्रज्ञप्तिस्वीकार किया है। इतना ही नहीं, वहाँ यह भी कहा गया है कि आत्मवादिता क्लेशोत्पादिका है और संसार का मूल कारण है। उत्तरकालीन बौद्ध साहित्य में तो इस मत को तर्कनिष्ठवृत्ति से प्रस्तुत किया गया है और यह कहा गया है कि आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण उसके पृथक् सद्भाव को सिद्ध नहीं कर पाते।

बौद्धदर्शन में आत्मा के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से भले ही स्वीकार न किया गया हो, पर 'चित्तसंतति' शब्द देकर उसके रिक्त स्थान की पूर्ति अवश्य कर दी है। इसके अनुसार पूर्व चित्त का नाश और उत्तर चित्त का उत्पाद होता है। चित्त की यह संतति अनादि काल से प्रवृत्त हो रही है और आगे भी होती रहती है।

जैनदर्शन चित्त संतति के समकक्ष ज्ञानपर्यायों को मानता है। ये ज्ञानपर्यायें प्रत्येक क्षण परिवर्तित होती रहती हैं अर्थात् पूर्वज्ञान का विनाश होते ही उत्तर ज्ञानपर्याय उत्पन्न हो जाते हैं। बौद्ध पर्यायवादी हैं, अतः ज्ञान तो है पर उसका आश्रय रूप कोई द्रव्य नहीं। जबकि जैन द्रव्यवादी हैं और द्रव्यपर्यायात्मक होने के कारण ज्ञान को जीव द्रव्य का गुण स्वीकार करते हैं और उसकी विविध अवस्थाओं को उसका पर्याय। यह दोनों सिद्धान्तों में अन्तर है।

१. नियमसार, ता० वृ० ११६।

२. सर्वायसिद्धि, ५.१९।

३. घवला, १.१.१.३५।

४. विशेष देखिए, लेखक की पुस्तक "बौद्ध संस्कृति का इतिहास" पृ० ८८-९२।

यहाँ यह भी दृष्टव्य है कि बौद्धदर्शन की दृष्टि से चित्तसंतति ज्ञान काल्पनिक और भ्रमजनित है, परन्तु जैनों के अनुसार यह काल्पनिकता ही सही नहीं है। यदि चैतन्य का संबंध अपलाप किया जाय, तो संतानत्व सिद्ध नहीं हो सकता। संतान की सिद्धि प्रतीत्यसमुत्पाद पर आधारित है, जो क्षणभंगवाद के मानने पर निर्दोष नहीं रह जाता।

बौद्धधर्म में स्कन्ध संतति के साथ ही आत्मा को स्वीकार करने के बीज अवश्य दिखाई देते हैं। यही कारण है कि उसके विवेचन काल में संवृतिसत् और परमार्थसत् की बात आचार्यों को करनी पड़ी। बौद्ध संप्रदाय में ही एक वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय तो पुद्गलवादी ही रहा है। तत्त्व-संग्रह में उल्लिखित भदंत योगसेन भी वात्सीपुत्रीय होना चाहिए। वे क्षणिकवाद में 'अर्थक्रिया' नहीं मानते दिखाई देते हैं। फलतः आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते होंगे। उनके अनुकरण पर अन्य दार्शनिकों ने भी क्षणिकवाद में अर्थक्रिया के प्रति सन्देह व्यक्त किया है।^१ पुद्गलवादियों जैसे कुछ और भी बौद्ध सम्प्रदाय थे, जो आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते थे, पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध न होने से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय के अनुसार आत्मा न स्कन्धों से मिला है और न अभिन्न है। यह वस्तुतः "न च सो न च अञ्जो" की ही अभिव्यक्ति है। वस्तुतः पुद्गलवादी होते हुए भी वात्सीपुत्रीय अनात्मवाद से उभर नहीं सके। इसलिए वे उसे एक द्रव्य नहीं मान सके। उनके अनुसार पुद्गल-प्रज्ञप्ति का व्यवहार प्रत्युत्पन्न आध्यात्मिक उपात्त स्कन्धों के लिए होता है। इसलिए वे कहते हैं कि यदि आत्मा स्कन्धों से अन्य होता, तो वह शाश्वत और असंस्कृत होता। यदि वह स्कन्धों से अनन्य होता, तो उसके उच्छेद का प्रसंग आता। हम यह जानते हैं कि कुछ बुद्ध अपने आप को न शाश्वतवादी मानते और न उच्छेदवादी।

वसुबन्धु आदि आचार्य वात्सीपुत्रीय सम्प्रदाय का खण्डन करते हुए दिखाई देते हैं। उन्होंने बड़े आयास के साथ वात्सीपुत्रीयों के तर्कों का खण्डन किया और प्रस्थापित किया कि पुद्गल स्कन्ध समुदाय प्रज्ञप्तिमात्र है, संज्ञा मात्र है, वस्तु सत् नहीं। उसे नाम और रूप स्कन्धों का संयोजन कहा जा सकता है। कर्मों के कारण उसमें नैरन्तर्यमात्र है, नित्यता नहीं।

वसुबन्धु के उत्तर देने के बावजूद वसुबन्धु का एक प्रश्न तो बिलकुल अनुत्तरित रह जाता है। उनका कहना है कि यदि आत्मा नाम का कोई सत्व नहीं, वह केवल हेतु-प्रत्यय से जनित ही धर्म है, स्कन्ध, आयतन और धातु है, तो फिर बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि सर्वज्ञता का आधार आत्मा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

वात्सीपुत्रीय के ये प्रश्न कदाचित् बौद्धेतर सम्प्रदायों के प्रश्नों का प्रतिनिधित्व करते हुए दिखाई देते हैं। इसलिए कर्मों का कर्ता, भोक्ता, संसरणकर्ता, प्रत्यभिज्ञाता कौन होगा? यदि आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकारा जाय। इन ज्वलन्त प्रश्नों का उत्तर महायानी आचार्यों ने यथासंभव देने का प्रयत्न किया है। उनके उत्तर से उनकी वाक्पटुता तथा अगाध विद्वत्ता एवं चिन्तनशीलता का दर्शन होता है। वसुबन्धु, नागार्जुन, आर्यदेव, शान्तरक्षित आदि आचार्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। इस सन्दर्भ में वात्सीपुत्रीय के पक्ष में कुमारलात का यह श्लोक दृष्टव्य है—

१. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. ३७९; स्याद्वादमंजरी, कारिका ५।

दृष्टिदंष्ट्रावभेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम् ।
देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्री पोतापहारवत् ॥

चित्तों का आश्रय कौन है ? और कौन संस्कार विशेष की अपेक्षाकर चित्त का उत्पाद करता है ? आदि जैसे प्रश्न भी सही समाधान की खोज में लगे हुए हैं। बौद्धाचार्य इन प्रश्नों का पूरा समाधान नहीं कर पाये।

आत्मा के अस्तित्व को सीधे ढंग से अस्वीकार किये जाने पर बौद्धों को 'संतति' स्पष्ट करने के लिए अनेक तत्त्वों की कल्पना करनी पड़ी। इसके लिए सर्वप्रथम उन्होंने रूप का विभाजन किया। चतुर्मुहाभूतों के अतिरिक्त प्रसादरूप, गोचररूप, भावरूप, हृदयरूप, जीवितरूप, आहाररूप आदि अनेक प्रकार के रूप हैं। कर्म, चित्त, ऋतु एवं आहार रूप के उत्पादक कारण हैं। इनमें आत्मा के कार्य को करने वाले तत्त्वों के लिए चित्तविज्ञान, जीवितरूप, विज्ञप्तिरूप, हृदयरूप आदि जैसे तत्त्वों को खोजना पड़ा। चित्त, विज्ञान जैसे तत्त्व कहाँ से कैसे उत्पन्न होते हैं ? यह गुत्थी बनी ही रहती है। इसके बावजूद अत्तवादोपादान जैसे तत्त्वों को भी संयोजित किया गया, जो संसरण के कारणों के रूप में प्रस्तुत हुए।

इस पर्यवेक्षण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धधर्म ने 'अत्तवाद' को विवाद का मूल कारण माना और उसे अव्याकृतवाद से आगे बढ़ाकर निरात्मवाद तक पहुँचाया। विवाद समाप्त तो नहीं हो सका, पर मानस में एक नई विचार-क्रान्ति अवश्य सामने आई। जिसने अपने उच्च स्वर में यह प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया कि आत्मा को न मानने से भी काम चल सकता है।

पर यह सिद्धान्त सभी बौद्ध संप्रदायों को संतुष्ट नहीं कर सका। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, समितीय बौद्ध अस्तित्ववादी हैं। उनका मन्तव्य है कि दर्शन, श्रवण, घ्राणादि वेदनाओं के उपादाता का अस्तित्व उपादानों के पूर्व अवश्य है, क्योंकि अविद्यमान कारक की दर्शनादि क्रिया का होना किसी भी स्थिति में संभव नहीं। परन्तु विज्ञानवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते। वे उसके खण्डन में अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं कि पुद्गल की प्रज्ञप्ति दर्शनादि से होती है। दर्शनादि से पूर्व यदि पुद्गल की सत्ता मानी जाय, तो वह दर्शनादि से निरपेक्ष होगी। यदि दर्शनादि के बिना पुद्गल आदि की सत्ता मानते हैं, तो पुद्गल के बिना भी दर्शनादि की सत्ता माननी पड़ेगी। अतः उपादान और उपादाता सिद्धि परस्परापेक्ष है। इसलिए दर्शनादि के पूर्व आत्मा के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। नागार्जुन, आर्यदेव, चंद्रकीर्ति आदि आचार्यों ने इस सिद्धान्त पर और भी गंभीर मंथन कर यह चिंतन प्रस्तुत किया कि आत्मा का अस्तित्व अग्नि और इंधन के अस्तित्व से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि अग्नि-इंधन में भेद, अभेद और भेदाभेद सिद्ध नहीं होता। उपादाता आत्मा के साथ उपादान पञ्च स्कन्ध की भी सिद्धि नहीं होती। उनके बीच क्रम का भी निर्धारण नहीं किया जा सकता, अन्यथा कर्ता और कर्म का एकत्व प्रसंग उपस्थित होगा।

यहाँ यह दृष्टव्य है कि पुद्गलवादी बौद्ध जिस अनवराग्रता (आदि-अन्तकोटि शून्य) के माध्यम से जन्म, जरा, मरण की सत्ता रूप आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि की बात रखते हैं, उसी अनवराग्रता का आधार लेकर माध्यमिक दर्शन असत्ता को सिद्ध करता है। उनके अनुसार संसार और भाव की कोई पूर्व कोटि सिद्ध नहीं होती।

पंचोपादान स्कन्ध दुःख हैं और उस दुःख का आश्रयभूत आत्मा होना चाहिए, इसे भी माध्यमिक दर्शन नहीं मानता। वह कहता है कि दुःख ही नहीं, तो दुःख का आश्रयभूत आत्मा कहाँ से सिद्ध होगा। दुःख की सिद्धि उसके स्वयं कृतत्व, परकृतत्व उभयकृतत्व या अहेतुकत्व पर अवलंबित है, जो सिद्ध नहीं होता।

माध्यमिक संप्रदाय में अनात्मवाद को शून्यवाद के माध्यम से सिद्ध किया गया है। चूंकि उसकी दृष्टि में आध्यात्मिक अथवा बाह्य कोई भी पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, इसलिए वस्तुतः पंचोपादान स्कन्ध में आत्मा को नहीं खोजा जा सकता। संसार का मूल सत्काय दृष्टि है। आत्मा उसका आलम्बन है। यदि आत्मा स्कन्धरूप है, तो उसका उत्पाद-व्यय मानना पड़ेगा और उसकी अनेकता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। यदि आत्मा स्कंध व्यक्तिरिक्त है, तो उसका लक्षण उत्पाद-स्थिति-भंग नहीं कहा जा सकेगा। फलतः लक्षणविहीन होने से वह असंस्कृत और खपुष्प के समान हो जायगा। माध्यमिक कारिका और चतुःशतक में इस सिद्धान्त को प्रस्थापित किया गया है।

बौद्धदर्शन में जिसे 'चित्त' कहा है, अन्य दर्शनों में वही आत्मा है। चित्त, चैतसिकों के मुख्य कार्य हैं—प्रतिसन्धि, भवंग, अवजंन, दर्शन, श्रवण, घ्राण आस्वादन, स्पर्श संपरिच्छन, संसारेण, बोद्धपन (व्यवस्थापन), जवन तदालम्बन एवं च्युति।^१ आत्मा भी यथासमय यही कार्य करता है।

वसुबन्धु ने जिसे 'उपात्त' धातु कहा है, वह भी वस्तुतः आत्मा का प्रतीक है। उपात्त का अर्थ है—जिसे चित्त-चैत अधिष्ठान भाव से स्वीकृत करते हैं। इन्हें पाँच ज्ञानेन्द्रिय रूप भी कहा गया है।^२

सर्वास्तवादियों ने बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष माना, पर सौत्रान्तिकों ने उसे अनुमेय माना। योगाचार ने कुछ और आगे बढ़कर कहा कि जब बाह्यार्थ का प्रत्यक्ष ही नहीं होता, तो उसके अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता ही क्या और फिर बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है, सो ज्ञान को ही क्यों न माना जाय। अतः योगाचार ने विज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानी, शेष सत्ता को निःस्वभाव तथा स्वप्न सदृश माना। माध्यमिकों ने आगे चलकर यह प्रस्थापित किया कि जब अर्थ का ही अस्तित्व नहीं तो ज्ञान मानने की भी क्या आवश्यकता? अतः उन्होंने शून्य को ही परमार्थ तत्त्व माना है। यहाँ 'आलयविज्ञान' वही काम करता है, जो आत्मा करता है। आत्मा का निषेध करने पर विज्ञानवाद को आलयविज्ञान की कल्पना करनी पड़ी। इसके मानने पर जीवितेन्द्रिय के मानने की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। विज्ञानवाद में विज्ञान एक सामुदायिक परमाणु रूप है। वह रागादि धर्मों का और विलक्षण प्रमाण-प्रमेय अधिगम रूपों का एक समुदाय मात्र है। उसका भेद नहीं किया जा सकता।^३

उपनिषद् साहित्य में जैनधर्म के समान आत्मा को शरीर व्यापी माना गया है।^४ परन्तु बृहदारण्यक में आत्मा को चावल अथवा यव के दाने के बराबर तथा कठोपनिषद्^५ आदि में अंगुष्ठ

१. अभिधम्मत्थसंगहो, ३.१८।

२. अभिधर्मकोश, १.३४।

३. राजवात्तिक, १. १. ६८।

४. कौषीतिकी, ४.२०।

५. कठोपनिषद्, २. २. १२।

प्रमाण माना गया है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्^१ में उसे विलस्त (प्रदेश) बराबर स्वीकार किया गया है। आत्मा का यही परिमाण बढ़ते-बढ़ते व्यापकता तक पहुँचा^२। जैन दार्शनिकों ने देहपरिमाण और व्यापकता के बीच समन्वयात्मक ढंग से कहा कि केवल ज्ञान की दृष्टि से आत्मा व्यापक है और आत्मप्रदेश की दृष्टि से वह शरीर-व्याप्त है।^३ बौद्धदर्शन भी इसी को मानता हुआ दिखाई देता है।

इस संदर्भ में इतना और लिखना आवश्यक है कि चित्त की उत्पत्ति स्पर्श, वेदना आदि सर्वचित्तसाधारण चैतसिक धर्मों से सम्बद्ध होकर ही होती है। नाम (संप्रयुक्त चैतसिक) एवं रूप धर्म उसके आसन्न कारण हैं, जबकि जैनधर्म आत्मा को अजात, अनादि, अनन्त, अजर, अमर भोक्ता, कर्ता आदि मानता है। बौद्धदर्शन में चैतसिकों का आलम्बन चित्त उसी प्रकार है, जिस प्रकार कर्म का आलम्बन चित्त है। चित्त के अभाव में चैतसिकों का अस्तित्व रह ही नहीं सकता। चैतसिकों से निर्मुक्त होने पर इसी चित्त धातु का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसलिए निर्वाण अवस्था में चित्त के सद्भाव को स्वीकार नहीं किया गया। जैनधर्म आत्मा को मूलतः विशुद्ध मानता है, पर कर्मों के आवरण के कारण वह अविशुद्ध हो जाता है। इस अविशुद्धावस्था का नाम ही संसार है। धीरे-धीरे त्याग, तपस्या आदि के बल पर व्यक्ति कर्मों से पूर्ण मुक्त हो जाता है, उसके परिणाम विशुद्ध हो जाते हैं। यही अवस्था निर्वाणावस्था है। इसमें आत्मा का विनाश नहीं होता, बल्कि वह अपनी मूल विशुद्धावस्था में पहुँच जाता है।

बौद्धधर्म में चित्त की अवस्थाओं (भूमियों) का वर्णन करते हुए उसे चार प्रकार का बताया गया है—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर एवं लोकोत्तर। इनके ८९ भेद चित्त की विविध अवस्थाओं के सूचक हैं। जैनधर्म की परिभाषा में इन भूमियों को हम गुणस्थान कह सकते हैं। कामावचर चित्त का सम्बन्ध बहिरात्मा से है, रूपावचर और अरूपावचर चित्त आत्मा की अन्त-रात्मावस्था को द्योतित करते हैं तथा लोकोत्तरचित्त परमात्मावस्था का प्रतीक है। इसी तरह कुशल, अकुशल और अव्याकृत चित्त को हम क्रमशः शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग कह सकते हैं।

आत्मा का स्वरूप उपयोग या ज्ञान-दर्शनमय है। चित्त के लक्षणादि चतुष्कों से यह स्पष्ट है कि वह विज्ञान लक्षण है। जहाँ विज्ञान होता है, वहाँ दर्शन होता ही है। अतः चित्त को भी आत्मा के समान ज्ञान-दर्शनवान् मानना चाहिए।

अशुभोपयोग में आसक्त आत्मा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग में गुथा रहता है, वह मोह, माया, राग, द्वेष आदि के बन्धनों से जकड़ा रहता है। यही संसार का मूल कारण है। बौद्धधर्म में वर्णित अकुशल चित्त भी लगभग इसी प्रकार के हैं। वे लोभमूल, द्वेषमूल और मोहमूल होते हैं। सौमनस्य, दौर्मनस्य तथा उपेक्षा भाव भी उसके साथ चक्कर लगाते रहते हैं। इन अकुशल चित्तों(१२) का सीधा सम्बन्ध मोहनीय कर्म से है।

१. मुण्डकोपनिषद्, १. १. ६।

२. द्रव्यसंग्रह, वृत्ति, गा. १०; न्यायावतार वार्तिक वृत्ति, भाषा टिप्पण देखिये।

३. छान्दोग्योपनिषद्, ५. १८. १।

अहेतुक चित्तों में लोभ, द्वेष, मोह अकुशल हेतुक हैं तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह कुशल अथवा अव्याकृत हेतुक हैं। ये अहेतुक चित्त अकुशल विपाक, कुशल विपाक तथा क्रिया के भेद से तीन प्रकार के हैं। अकुशल और अहेतुक चित्त समवेत रूप में अशोभन चित्त कहलाते हैं। इनका आलम्बन आदि अनिष्ट रहता है, अतः अशोभन चित्त कहलाते हैं। इसलिए इनकी तुलना अशुभोपयोग अथवा मोहनीय कर्म से कर सकते हैं।

क्लेशादि कर्मों से विशुद्ध होने के कारण चित्त शोभन चित्त कहलाता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह शोभन-अशोभन नाम वस्तुतः चित्त का नहीं, चैतसिक का है। चित्त का काम तो मात्र आलम्बन को जानने का है। अतः चित्त का शोभन-अशोभन होना चैतसिकों के शोभन-अशोभन होने पर निर्भर करता है। उसे हम आत्मा की विशुद्ध अथवा मूल अवस्था कह सकते हैं, जो हमारे शुभाशुभ भावों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है।

शोभन चित्त जैनधर्म की शुभोपयोगावस्था के सूचक हैं। देव, गुरु, शास्त्र की पूजा, दान, सदाचार और उपवासादिक तप में तीन आत्मा शुभोपयोगात्मक हैं।^१ शुभोपयोग पुण्य कर्म के आश्रव का कारण है। पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुणियों का पालन करने वाला शुभोपयोगी संयमी तपस्वी सरागचरित्र वाला होता है।^२ क्रियाचित्तअर्हत् की सन्तान में होते हैं। अतः वे विपाक (फल) नहीं देते। किन्तु यदि वे विपाकोन्मुख हों, तो कुशलचित्तों की तरह उनका विपाक असीमित होता है। जैनदर्शन में भी अर्हत् के कर्म विपाक देनेवाले नहीं होते हैं। कुशल चित्त ध्यानचित्त कहलाते हैं। प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ ध्यान पर्यन्त सुखवेदना तथा पंचम ध्यान में उपेक्षा वेदना होती है। जैनधर्म का शुभोपयोगी तपस्वी भी इसी प्रकार के ध्यान से युक्त होता है। दोनों के बीच सूक्ष्म अन्तर को हम ध्यान के प्रकरण में स्पष्ट करेंगे।

कर्मवाद

जैन-बौद्ध धर्म कर्मवादी हैं। मिथ्यादर्शनादि परिणामों से संयुक्त होकर जीव के द्वारा जिनका उपार्जन किया जाता है, वे कर्म कहलाते हैं। दोनों धर्मों की दृष्टि से यही कर्म संसरण का कारण होता है।

बौद्धधर्म में कर्म को चैतसिक कहा गया है और वह चित्त के आश्रित रहता है। जैनधर्म में भी कर्म आत्मा के आश्रय से उत्पन्न माने गये हैं। जैनधर्म में त्रियोग (मन, वचन, काय) को आश्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा का मूल कारण माना गया है। बौद्धधर्म में भी कर्म तीन प्रकार के हैं—चेतनाकर्म (मानसिक कर्म) और चेतयित्वाकर्म (कायिक और वाचिक कर्म)। इन्हें त्रिदण्ड कहा गया है। इनमें से मनोदण्ड हीनतम और सावद्यतम कर्म माना गया है। जैनधर्म की भी यही मान्यता है। यहाँ कर्म के तीन रूप बताये गये हैं—कृत, कारित और अनुमोदित। इनमें यद्यपि तीनों कर्म समान दोषोत्पादक हैं, पर कृत कर्म अपेक्षाकृत अधिक दोषी माना जाता है, यदि उसके साथ मन का सम्बन्ध है।

१. प्रवचनसार, ६९।

२. द्रव्यसंग्रह, ४५।

बौद्धधर्म में कर्म की परिपूर्णता के लिए चार बातों की आवश्यकता बताई गई है—

१. प्रयोग (चेतना कर्म, अर्थात् इच्छा)
२. मौल प्रयोग (कार्य प्रारम्भ)
३. मौल कर्मपथ (विज्ञप्ति कायकर्म तथा शुभ-अशुभरूप अविज्ञप्ति कर्म) तथा
४. पृष्ठ (कर्म करने के उपरान्त शेष कर्म)

ये दोनों कर्म भावों के अनुसार शुभ और अशुभ होते हैं। जैनधर्म के द्रव्यकर्म और भावकर्म की तुलना किसी सीमा तक इनसे की जा सकती है।

बौद्धधर्म में भी मुख्य कर्म चेतना कर्म माना गया है। उसे चित्त सहगत धर्म कहा है। मानसिक धर्म उसकी अपरसंज्ञा है। यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (जन्म) के योग्य बनाती है। चेतना के कारण ही शुभाशुभ कर्म होते हैं और तदनुसार ही उनका फल होता है। यह मनसिकार दो प्रकार का है—

१. योनिशो मनसिकार (अनित्य को अनित्य तथा अनात्म को अनात्म मानना)
२. अयोनिशो मनसिकार (अनित्य को नित्य तथा नित्य को अनित्य मानना)

जैनधर्म की परिभाषा में इनमें से प्रथम कर्म सम्यक्त्व और दूसरा मिथ्यात्व है। मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म को यहाँ 'योग' कहा गया है। जिससे आठ कर्मों का छेद हो, वे कृति कर्म हैं और जिनसे पुण्य कर्म का संचय हो, वे चित्कर्म हैं। बौद्धधर्म के समान जैनधर्म में भी चेतना कर्म है, जिसे भाव विशेष कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होती है। चेतना कर्म के दो रूप हैं—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक हैं। योनिशो मनसिकार को ज्ञानचेतना और अयोनिशो मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते हैं। सम्यग्दृष्टि को ही ज्ञान चेतना होती है और मिथ्यादृष्टि को कर्म तथा कर्मफल चेतना होती है।^१

जैनधर्म के ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म जैसे कर्म बौद्धधर्म में नहीं दिखते। ज्ञान और दर्शन आत्मा के गुण हैं। बौद्धधर्म आत्मा को मानता नहीं, अतः इन गुणों के विषय में वहाँ अधिक स्पष्ट विवेचन नहीं मिलता। शोभन चैतसिक वेदनीय कर्म के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। मोह, आहीवत्य अनपत्राप्य, औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एवं विचिकित्सा ये चौदह अकुशल चैतसिक हैं। इन चैतसिकों की तुलना जैनधर्म के भावकर्म से की जा सकती है। मोहनीय कर्म के अन्तर्गत ये सभी भावकर्म आ जाते हैं। बौद्धधर्म के अकुशल कर्म मोहनीय कर्म के भेद-प्रभेदों में समाहित हो जाते हैं। जीवितेन्द्रिय जैनधर्म का आयुर्कर्म है, जिसे 'सर्वचित्त साधारण' कहा गया है। नामकर्म की प्रकृतियाँ भी बौद्धधर्म में सरलतापूर्वक मिल जाती हैं।

शोभन चैतसिकों में श्रद्धा आदि शोभन साधारण, सम्मा वाचा आदि तीन विरतियाँ तथा करुणा, मुदिता दो अप्रामाण्य चैतसिक जैनधर्म के सम्यग्दर्शन के गुणों में देखे जा सकते हैं। अकुशल कर्मों की समाप्ति होने पर ही साधक श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्र-मध्यस्थता आदि गुणों की प्राप्ति करता है। ऐसे ही समय सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। यहाँ दर्शन

१. प्रवचनसार, १२३-१२४; पञ्चाध्यायी, २२३, ८२३-२३।

का अर्थ श्रद्धा है और सप्त तत्त्वों पर भली प्रकार ज्ञानपूर्वक श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है। दोनों धर्मों में श्रद्धा को प्राथमिकता दी गई है। एक में सम्यग्दर्शन है, तो दूसरा उसे ही सम्मादिट्ठी कहता है। यहाँ 'सम्यक्' शब्द विशेषण के रूप में जुड़ा हुआ है, जो पदार्थों के यथार्थ ज्ञानमूलक श्रद्धा को प्रस्तुत करता है। सम्यग्दर्शन निःशंकित, निःकांक्षित आदि आठ अंग शोभन चैतसिकों को और स्पष्ट कर देते हैं। ये वस्तुतः सम्यग्दृष्टि के चित्त की निर्मलता को सूचित करते हुए उसकी विशेषताओं को बताते हैं।

अभिधम्मत्थसंगहो के प्रकीर्णक संग्रह में चित्तचैतसिकों का संयुक्त वर्णन किया गया है। चित्त-चैतसिकों के विविध रूप किस-किस प्रकार से परस्पर मिश्रित हो सकते हैं, इसे यहाँ वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलम्बन तथा वस्तु का आधार लेकर स्पष्ट किया गया है। वेदना संग्रह के सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य और उपेक्षा को हम वेदनीय कर्म के भेद-प्रभेदों में नियोजित कर सकते हैं। अनुकम्पा, दान, पूजा, प्रतिष्ठा, वैयावृत्ति आदि सातावेदनीय कर्म हैं और दुःख, शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिवेदन आदि कर्म असाता वेदनीय कर्म हैं। कृत्य संग्रह में निर्दिष्ट प्रतिसन्धि, भवंग, आवर्जन, दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्श, संपरिच्छन आदि सभी चित्त-चैतसिक के कार्य हैं। इन्हें जैनधर्म के शब्दों में कर्मयुक्त आत्मा के परिस्पन्द कह सकते हैं।

बौद्धधर्म में कर्म के भेद अनेक प्रकार से किये गये हैं। भूमिचतुष्क और प्रतिसन्धिचतुष्क का सम्बन्ध जीव अथवा चित्त के परिणामों पर आधारित अग्रिम गतियों में जन्म लेने से है। कुशल-अकुशल चेतना के आधार पर बौद्धधर्म में जनककर्म, उपष्टभक कर्म (मरणान्तकाल में भावों के अनुसार गतिदायक), उपपीडक कर्म (विपाक को गहरा करने वाला) तथा उपघातक कर्म (कर्म-फल को समूल नष्ट करने वाला) ये चार भेद किये गये हैं। ये भेद वस्तुतः कर्म की तरतमता पर आधारित हैं। किसी विषय विशेष से इनका सम्बन्ध नहीं है। पाकदान पर्याय की दृष्टि से गरुक, आसन्न आदि चतुष्क कर्म समय पर आधारित हैं। विपाक चतुष्क भी चार कर्म हैं—इष्टधर्म-वेदनीय, उपपद्यवेदनीय, अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म। इनकी हम प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभागबंध के साथ तुलना कर सकते हैं। जैनधर्म में वर्णित प्रदेशबन्ध जैसा विषय बौद्धधर्म में नहीं मिलता है।

जैन-बौद्धधर्म में अकुशल कर्मों में मोह और तज्जन्य मिथ्यादृष्टि का स्थान प्रमुख है। मिथ्या-दृष्टि को ही दूसरे शब्दों में 'शीलव्रत परामर्श' कहा गया है। जैनधर्म इसी को 'मिथ्यात्व' संज्ञा देता है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जैनधर्म आत्मवादी धर्म है। बौद्धधर्म आत्मवाद को मिथ्यात्व कहता है, जबकि जैनधर्म अनात्मवाद को। अन्त में चलकर दोनों एक ही स्थान पर पहुँचते हैं।

गति

जिसके उदय से आत्मा भवान्तर को प्राप्त करता है, वह गति नामकर्म है। जैनधर्म में गतियाँ चार प्रकार की बताई हैं—नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति। बौद्धधर्म में इस संदर्भ में चार भूमियों का उल्लेख है—अपाय, कामसुगति, रूपावचर एवं अरूपावचर। अपायभूमि चतुर्विध है—निरक, तिरश्चीनयोनि, पैत्रविषय एवं असुरकाय। कामसुगति भूमि सात प्रकार की है—मनुष्य, चानु-मंहाराजिक आदि। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और शेष देवों के प्रकार उन भूमियों में दिखाई देते हैं।

१. नरक गति

बौद्धधर्म में नरकों की संख्या आठ है—१. सञ्जीव, २. कालसुत्त, ३. संघात, ४. जालरोसव, ५. धूमरोसव, ६. तापन, ७. प्रतापन एवं ८. अवीचि। यह पृथ्वी २,४०,००० योजन गम्भीर है। इसमें १.२०,००० योजन पर्यन्त मृत्तिकामय तथा १,२०,००० योजन पर्यन्त पाषाणमय है। नीचे-नीचे एक निरय से दूसरे निरय के बीच १५,००० योजन का अन्तर है। इन चार महानरकों के आसपास ४ प्राकार और ४ द्वार हैं। उनके समानान्तर ४ उपनिरय हैं—गूथनिरय, कुक्कुलनिरय, सिम्बलिवन और असिपत्रवन। इनके चारों ओर खारोदका नदी है। क्षुधा, तृष्णा आदि का वर्णन जैनधर्म से मिलता-जुलता है।

जैनधर्म में बौद्धधर्म की अपेक्षा नरकों का वर्णन अधिक गंभीर और विस्तृत मिलता है। इसके अनुसार सात नरक हैं। इन भूमियों में दुर्गन्ध, शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा आदि रहती हैं। भयंकर दुःख यहाँ जीव प्राप्त करता है। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

नाम १	अपर नाम २	मोटाई ३	इन्द्रक ४	बिलों का प्रमाण			
				श्रेणीबद्ध ५	प्रकीर्णक ६	कुल बिल	
१.	रत्नप्रभा	धर्मा	योजन १८००००	१३	४४२०	२९९५५६७	३० लाख
	खरभाग		१६०००				
	पंकभाग		८४०००				
	अब्बहुल		८००००				
२.	शर्करा	वंशा	३२०००	११	२६८४	२४७९३०५	२५ लाख
३.	बालुका	मेघा	२८०००	९	१४७६	१४९८५१५	१५ लाख
४.	पंकप्रभा	अंजना	२४०००	७	७००	९९९२९३	१० लाख
५.	धूमप्रभा	अरिष्टा	२००००	५	२६०	२९९७३५	३ लाख
६.	तमप्रभा	मघवी	१६०००	३	६०	९९९३२	९९९९५
७.	महातमप्रभा	माघवी	८०३०	१	४	X	५
				४९	९६०४	८३९०३४७	८४ लाख

१. तिलोयपण्णत्ति, २.२६-२७; राजवार्तिक, ३.२.२; त्रिलोकसार, १५१; जंबूदीवपण्णत्ति, ११, १४३-१४४; जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २, पृ० ५७७।

२. तिर्यञ्च गति

बौद्ध साहित्य में तिर्यञ्चगति का वर्णन बहुत कम मिलता है। जैन साहित्य में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पशु-पक्षी-कीड़े इसके अन्तर्गत आते हैं। ये जलचर, थलचर, नभचर होते हैं। संज्ञी-असंज्ञी होते हैं, गर्भज और संमूर्च्छनज होते हैं।

३. मनुष्य गति

दोनों धर्मों में मनुष्य गति को श्रेष्ठतम माना गया है। जैन साहित्य में मनुष्य दो प्रकार का है—आर्य और म्लेच्छ। उसके चार प्रकार भी हैं—कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तर्द्वीपज तथा संमूर्च्छिम। पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद भी मिलते हैं।

४. देवगति

बौद्धधर्म में देवों का वर्णन भी उतने विस्तार से नहीं है, जितना जैनधर्म में मिलता है। काम-सुगतभूमि में मनुष्य को छोड़कर शेष छह प्रकार के देव हैं—चातुर्यंहराजिक, त्रायस्त्रिंश, याम, नुषित, निर्माणरति और परनिर्मितवशवर्ती। इन भूमियों के ऊपर रूपावचरभूमि हैं, जिनकी संख्या १६ है—(i) ब्रह्मपारिषद्य, ब्रह्मपुरोहित, महाब्रह्मा, (ii) परित्ताभा, अप्रमाणाभा, आभास्वस, (iii) परीत्तशुभा, अप्रमाणशुभा, शुभाकीर्णा, (iv) वृहत्फला, असंज्ञिसत्त्वा, शुद्धावासा—अवृहा, अतपा, सुदृशा, सुदर्शी, अकनिष्ठा। इन रूपी ब्रह्माओं के ऊपर ४ अरूपी भूमियाँ हैं—आकाशानन्त्याय-तन, विज्ञान, आकिञ्चन्य और नैवसंज्ञानासंज्ञा।

जैनधर्म में देवों के चार भेद हैं—भवनवासी, व्यंतरवासी, ज्योतिषी और वैमानिक (कल्प-वासी)। कल्पवासियों के सोलह भेद सौधर्म, ईशान, सानकुमार आदि रूपी ब्रह्माओं से मिलते-जुलते हैं और अरूपावचरभूमि के देवों की नव ग्रैवेयक तथा सर्वार्थसिद्धि आदि से तुलना की जा सकती है। इनकी प्रकृति में कुछ अन्तर अवश्य दिखता है।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य, जैनधर्म के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं। जो बौद्धधर्म में भी नहीं दिखाई देते हैं। जैनदर्शन में आकाश का कार्य अवगाहन करना है, स्थान देना है। वह अमूर्तिक, अखण्ड, नित्य, सर्वव्यापक, और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। इसमें जीव और पुद्गल को एकसाथ अव-काश देने की क्षमता है। बौद्धदर्शन में आकाश को असंस्कृत माना गया है, जिसमें उत्पादादि नहीं होते।

काल द्रव्य

जैनधर्म में वर्णित धर्म और अधर्म द्रव्य बौद्धधर्म में नहीं हैं। कालद्रव्य को जैनधर्म स्वीकार करता है। उसके अनुसार वह अमूर्तिक और निष्क्रिय है। घड़ी, घण्टा आदि से उसका अस्तित्व प्रमाणित होता है।

बौद्धधर्म का प्रारम्भिक रूप काल को स्वीकार करता हुआ दिखाई देता है। वहाँ कहा गया है कि काल से औपाधिक द्रव्यों की उत्पत्ति होती है। यहाँ रूप को ही अनित्य माना जाता था और चित्त, विज्ञान जैसे अन्य सूक्ष्म धर्म इस अनित्यता के परे थे। वैभाषिक में रूप और चित्त को अनित्य माना है। सौत्रान्तिकों के अनुसार भूत, भविष्यत् काल का अस्तित्व नितान्त काल्पनिक एवं आधारविहीन है। सर्वास्तित्वाद् में उसके अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। आर्यदेव ने काल

के अस्तित्व का खण्डन किया है। इस प्रकार बौद्धधर्म में काल के अस्तित्व के विषय में दोनों परम्परायें रही हैं।^१

पाश्चात्य दार्शनिकों में भी कालवान प्रचलित रहा है। न्यूटन, देकार्त, लाइवनीज़ आदि विद्वान् इस संदर्भ में अन्तर्निरोक्षणवादी तथा यथार्थवादी हैं। बर्कले, ह्यूम आदि दार्शनिक काल की बाह्यगत सत्ता को अस्वीकार करते हैं तथा उसे अमूर्त विचार मात्र मानते हैं। काण्ट काल को बुद्धिनिहित मानते हैं, जबकि हेगेल द्वयात्मक दृष्टिकोण से उपर्युक्त मतों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

जम्बूद्वीप और उसका उत्तर कुरु क्षेत्र

तत्त्वमीमांसा के संदर्भ में विचार करते समय 'जम्बूद्वीप' की परिकल्पना पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। 'जम्बूद्वीप' भारतीय संस्कृति और साहित्य में एक सर्वमान्य भौगोलिक शब्द है, जिसकी परिधि सर्वसम्मत नहीं है। जैन-बौद्ध और वैदिक तीनों संस्कृतियों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विशाल जम्बू वृक्ष की अवस्थिति के कारण इस महाद्वीप को 'जम्बूद्वीप' कहा गया है।^२ पालि साहित्य में इसे जम्बूखण्ड^३, जम्बूवन^४ और महापठवी^५ भी नाम दिये गये हैं।

पुराणों में समूची पृथ्वी को सात द्वीपों में विभक्त किया गया है—जम्बू, शाक, कुश, शाल्मल क्रौंच, गोमेद और पुष्कर। इनमें जम्बूद्वीप के नव वर्ष हैं, जिनमें भारतवर्ष एक है और भारतवर्ष भी नवद्वीपों में विभक्त है।

जैन परम्परा में संपूर्ण पृथ्वी को 'जम्बूद्वीप' अभिधान दिया गया है। इसमें सात क्षेत्र हैं—भरत, हेमवत, हरिवर्ष, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत् और ऐरावत। जम्बूद्वीप के १९० भागों में भरत-क्षेत्र एक भाग है। जम्बूद्वीप, धातकी खण्ड और पुष्करार्थ अर्थात् ढाई द्वीपों में ही मनुष्य रहते हैं। तिर्यंच समस्त मध्यलोक में तथा स्थावर जीव समस्त लोक में भरे हुए हैं।

जम्बूद्वीप का तारामण्डल

दस हजार योजन व्यास वाले सुदर्शन मेरु को तारामण्डल ११२ योजन दूरी पर प्रदक्षिणा करता है। दो चन्द्र और दो सूर्य परस्पर विरोधी दिशा में सुमेरु पर्वत के मध्य से ४९८२० और ५०३३० योजन दूरी पर दो दिनों में एक प्रदक्षिणा देते हैं तथा सूर्य उत्तरायण से दक्षिणायन और दक्षिणायन से उत्तरायण (४९८२० व ५०३३ योजनों के मध्य में) १८३ दिन में भ्रमण करता है। इस प्रकार सौरवर्ष ३६६ दिनों का होता है।^६ तारामण्डल को हम इस प्रकार समझ सकते हैं—

१. विशेष देखिये, लेखक की पुस्तक 'बौद्धसंस्कृति का इतिहास', पृ० १५३-१५८।
२. देखिए—पुराण साहित्य: विनय पिटक: परमत्थजोतिका, भाग २, पृ० ४४३।
३. सुत्तनिपात सेलसुत्त।
४. पर्यथसूदनी, भाग २, पृ० ४२३।
५. दीघनिकाय, महागोविन्दसुत्त।
६. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, पृ० ९०-१००।

क्रमांक	सामान्य तारामण्डल	जम्बूद्वीप से ऊँचाई	व्यास (योजनों में)
१	सामान्य तारामण्डल	७९०	१/४ से १ कोश तक
२	सूर्य	८८०	४८/६१ योजन
३	चंद्र	८८०	५६/६१ योजन
४	नक्षत्र	८८४	१ कोश तक
५	बुध	८८८	१/२ योजन
६	शुक्र	८९१	१ योजन
७	गुरु	८९४	एक कोश से कम
८	मंगल	८९७	१/२ कोश
९	शनि	९००	१/२ कोश
१०	राहु	एक योजन से कम
११	केतु	एक योजन से कम

नोट—१ कोश = १००० मील

१ योजन = ४ कोश = ४००० मील

स्वर्ग और मोक्ष जम्बू-सुमेरु पर्वत के ऊपर अवस्थित हैं तथा नरक जम्बूद्वीप के नीचे अवस्थित है। इनके विषय में जैन-बौद्ध मान्यताओं का संक्षिप्त विवरण पीछे दिया जा चुका है।

पालि साहित्य में समूचे भारतवर्ष के लिए ही 'जम्बूद्वीप' शब्द का प्रयोग हुआ है। पौराणिक जम्बूद्वीप इससे बृहत्तर है और जैन जम्बूद्वीप तो निश्चित ही बृहत्तम है। इसके मध्य में मेरु (सुमेरु) पर्वत है। जम्बूद्वीप के सात भागों अथवा क्षेत्रों में भारतवर्ष एक है, जिसे हम आधुनिक भारत की भौगोलिक स्थिति से तुलना कर सकते हैं। अतः पालि साहित्य का जम्बूद्वीप जैन साहित्य का भरतक्षेत्र कहा जाना चाहिए। इसे चीनी साहित्य में भी 'जम्बूद्वीप' नाम दिया गया है। यही नहीं, मगधदेश, ब्राह्मणदेश जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

पालि साहित्य में समूची पृथ्वी को चार महाद्वीपों में विभक्त किया गया है—जम्बूद्वीप, पूर्वविदेह, उत्तरकुरु और अपरगोयान। ये चारों महाद्वीप सुमेरु पर्वत के चारों ओर अवस्थित हैं। जैन परम्परा में सात क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत। इन क्षेत्रों के छह कुलाचल हैं—हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि (रूप्य) और शिखरी। पालि साहित्य में सुमेरु पर्वत की ऊँचाई १६८ योजन बताई गई है तथा उसके चारों ओर सात पर्वत श्रेणियों का उल्लेख है—युगन्धर, ईसधर, करवीक, सुदस्सन, नेमिन्धर, विनतक और अस्सकण्ण। सुमेरु के पूर्व में पूर्व विदेह, उत्तर में उत्तरकुरु, पश्चिम में अपरगोयान और दक्षिण में जम्बूद्वीप अवस्थित है। जब जम्बूद्वीप में सूर्योदय होता है, तब अपरगोयान में रात्रि का मध्यप्रहर होता है। अपरगोयान में जब सूर्यास्त होता है, तो जम्बूद्वीप में अर्धरात्रि होती है। अपरगोयान में जब सूर्योदय होता है, तो जम्बूद्वीप में दोपहर होती है, पूर्वविदेह में सूर्यास्त और उत्तरकुरु में अर्धरात्रि।

इस विवरण को किसी सीमा तक जैन जम्बूद्वीप की स्थिति से मिला सकते हैं। पालि परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती राजा चारों महाद्वीपों का स्वामी होता है। पहले वह पूर्वदिशा में पूर्वविदेह पर विजय प्राप्त करता है, उसके बाद दक्षिण दिशा में अवस्थित जम्बूद्वीप पर, फिर पश्चिम में अपर-

गोयान और उत्तर में उत्तरकुरु की विजययात्रा के लिए प्रस्थान करता है^१। चक्रवर्ती मान्धाता ने अपनी विजययात्रा का क्रम यही रखा था। वे संसार-विजय करने के बाद अपने कुछ साथियों के साथ जम्बूद्वीप में आ बसे। उनके पूर्वविदेह से आने वाले साथी जिस प्रदेश में बसे, उसका नाम विदेह राष्ट्र पड़ गया। इसी तरह उत्तरकुरु और अपरगोयान से आने वाले लोग क्रमशः कुरु और अपरान्त राष्ट्र में बस गये। पूर्वविदेह को लोगों ने तुर्किस्तान से पहिचान करने का प्रयत्न किया है। उत्तरकुरु को साइबेरिया बताया है तथा अपरगोयान को पश्चिमी तुर्किस्तान से मिलान किया है।

बुद्धकालीन जम्बूद्वीप की दक्षिणी सीमा आन्ध्र, तमिल और लंका तक चली जाती है। पश्चिमी-सीमा में भृगुकच्छ (भडोंच), सोपारा (सुप्पारक) और सिन्धु-सोवीर देश आते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमा में गन्धार और कम्बोज अर्थात् अफगानिस्तान और काश्मीर का काफी भाग आता है। पूर्व और दक्षिण पूर्व में वंग, सुम्ह, उत्कल और कर्लिंग समाहित होता है। चीनी लेखकों ने इस जम्बूद्वीप के आकार को उत्तर में चौड़ा और दक्षिण में सकरा बताया है।

उत्तरकुरु के सन्दर्भ में जैन साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी पौराणिक विवरण मिलता है। दीघनिकाय के अनुसार उत्तरकुरु के व्यक्ति व्यक्तिगत संपत्ति नहीं रखते और न उनकी अपनी अलग-अलग पत्नियाँ होती हैं। उन्हें अपने जीवन-निर्वाह के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। यहाँ अनाज स्वयं उग जाता है। यहाँ का जीवन नितान्त सुखमय है। यहाँ के राजा का नाम कुबेर तथा राजधानी का नाम विषाण है। प्रधान नगर हैं—आटानाटा, कुसीनाटा, नाटा-परिया, परकुसीनाटा, कपीवल जनोध, नवननिया, अम्बर और अलकमन्दा। यहाँ के निवासी यक्ष कहे गये हैं। यहाँ कल्पवृक्ष हैं। लोग निर्लोभी हैं, आयु नियत है। बुद्धघोष तो यहाँ के लोगों को उनके प्राकृतिक शील के कारण सर्वोत्कृष्ट मानते हैं।

उत्तरकुरु का यह पौराणिक वर्णन होते हुए भी कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जो उत्तरकुरु को भारतीय प्रदेश के समीप अवस्थित सिद्ध करते हैं। विनयपिटक के अनुसार भगवान् बुद्ध उत्तरकुरु गये। अल्प भिक्षु भी उनके साथ थे। राजगृहवासी जोतिक की पत्नी भी उत्तरकुरु की थी।

विसुद्धिमग्न में उत्तरकुरु को सुमेरु पर्वत के उत्तर में बताया गया है और उसका विस्तार आठ हजार योजन है और समुद्र से घिरा है। महाभारत के भीष्मपर्व में भी उत्तरकुरु की यही अवस्थिति है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी उत्तरकुरु को मेरुपर्वत के उत्तर और नील पर्वत के दक्षिण में बताया गया है। इसका विस्तार ११८४२ योजन व दो कला अधिक है। जम्बूवृक्षों, पर्वतों और नदियों का वर्णन अत्यन्त पौराणिक है। देवकुरु की भी अवस्थिति का वर्णन यहीं उपलब्ध है। इसका वर्णन योगभूमि जैसा है। मनुष्य तीन कोश ऊँचे और उत्तर लक्षणों से युक्त होते हैं।

जैन साहित्य में विदेह, पूर्वविदेह और अपर विदेह का वर्णन मिलता है। बौद्ध साहित्य अपरविदेह के स्थान पर अपरगोयान का उल्लेख करता है। विदेह और पूर्वविदेह का वर्णन तो है ही।

१. महाबोधिवंस, पृ० ७३-७४।

बौद्ध साहित्य में विदेह को प्रथमतः राजतन्त्र और बाद में गणतन्त्र कहा गया है। उसकी अवस्थिति मगध देश से गंगापार मानी है। बुद्ध भी यहाँ के मखादेव आम्रवन में रहे थे। जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति में विदेह का वर्णन पौराणिक ही है। वहाँ कच्छा नामक विजय तथा क्षेमा नामक नगरी का उल्लेख है। कच्छा के तीन द्वीपों का भी उल्लेख है—मागध, वरतनु और प्रभास। अतः लगता है, यह विदेह मिथिला विदेह ही होना चाहिए। उत्तरकालीन जैन साहित्य में इसी विदेह का वर्णन मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण से कदाचित् इसी विदेह में पहुँचे होंगे।

पूर्व विदेह सुमेरु के पूर्व में है। यहाँ सुकच्छा विजय और क्षेमपुरी नगरी है, अरिष्टपुरी नाम की राजधानी है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति इसी सन्दर्भ में वत्स, सुवत्स नगरियों का भी वर्णन करती है, जो उसके पश्चिम में अवस्थित हैं। हम यह जानते ही हैं कि वत्स राज्य मगध और अवंती के बीच स्थित था। उसके उत्तर में कोशल, पश्चिम में सुरसेन और दक्षिण में चेदि के कुछ भाग आते थे। यहाँ का राजा उदयन शक्तिसम्पन्न था। उसने चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से विवाह सम्बन्ध किया था। वत्स की राजधानी कौशाम्बी थी। पूर्व विदेहवर्ती वत्स को बुद्धकालीन वत्स से मिलाया जा सकता है। यहाँ तीर्थंकर गणधरदेव तथा चक्रवर्ती की स्थिति सर्वकालिक कही गयी है।

जम्बूद्वीप का अपर विदेह रत्नसंचया नगरी के पश्चिम में अवस्थित है। यहाँ अशोका-विगतशोका नगरी का उल्लेख है, जिसका संकेत पाटलिपुत्र की ओर होना चाहिए। पूर्व की ओर अयोध्या की अवस्थिति बतायी है। विदेह, पूर्वविदेह और अपरविदेह को कहीं-कहीं मिला सा दिया है। इसलिए ऐसा लगता है, ये तीनों प्रदेश आसपास ही रहे होंगे। कहा गया है विदेह में विष्णु, महेश्वर, दुर्गा, सूर्य, चन्द्र और बुद्धदेव के भवन नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह हो सकता है कि उस समय वहाँ जैनधर्म काफी प्रभावक स्थिति में था।

इस प्रकार जम्बूद्वीप का भूगोल व्यावहारिक स्तर पर यदि देखा जाये, तो अधिक से अधिक एशिया तक विस्तृत किया जा सकता है। उसके अधिकांश देश और नगर हमारे भारत देश से संबद्ध हैं। आचार्यों ने कहीं देशों और नगरों यहाँ तक कि राजाओं के नामों का भी अनुवाद कर दिया है। इसलिये मूल नामों की पहिचान करना कठिन-सा हो जाता है। अतः अभी जैन भौगोलिक परम्परा पर निष्पक्ष और निरभिनवेश पूर्वक विचार किया जाना आवश्यक है।

सृष्टि-सर्जना

तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में ईश्वर और सृष्टि कल्पना पर भी विचार किया जाना आवश्यक है। श्रमणेतर संस्कृति में ईश्वर को सृष्टि कर्ता-हर्ता और साथ ही सुख-दुःखदाता के रूप में अंगीकार किया गया है, पर श्रमण (जैन-बौद्ध) संस्कृति में ईश्वरवाद को कर्मवाद तथा सृष्टिवाद को निमित्त-उपादान कारणवाद के रूप में उपस्थित किया गया है।

पथिकसुत्त के अनुसार बौद्धधर्म में ईश्वर सत्ता वस्तुतः मानसिक सत्ता है। उसका सृष्टिकर्ता के रूप में कोई अस्तित्व नहीं, पर उनके स्वरूप पर विचार करने के बाद ऐसा लगता है कि बुद्ध ने ईश्वर का स्वरूप भी अवक्तव्य मानने की ओर संकेत किया है। उन्होंने त्रैविद्य ब्राह्मणों के कथन का अप्रामाणिक घोषित कर ईश्वर एवं ईश्वर द्वारा प्रवेदित वेद को अमान्य किया है और साथ ही ईश्वर मानने वालों की परम्परा को अन्धवेणी के समान कहा है। इसी तरह सभी सुख-दुःखों का कारण

कर्म ही नहीं, लौकिक कारण भी माना गया है। 'अत्तदीपो भव' कहकर पुरुषार्थवादी की ओर संकेत किया है। प्रतीत्यसमुत्पाद अथवा हेतु-प्रत्यय सापेक्षता ईश्वरवाद का खण्डन करने के लिए पर्याप्त है, पर शून्यवाद तक पहुँचते-पहुँचते यह वाद 'अजातिवाद' तक चला गया।^१

जैनदर्शन स्कन्धों के परस्पर भेद, मिलन आदि से पुद्गलों की उत्पत्ति मानता है। उसी को हम जगत्-सृष्टि कहते हैं। शरीर, वचन मन, श्वासोच्छ्वास पुद्गल के ही परिणामन हैं। ये दृश्य और अदृश्य दोनों प्रकार के होते हैं।

लोक द्रव्य की अपेक्षा सान्त है और वह पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त है। काल की दृष्टि से शाश्वत है, पर क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है।^२ लोक पञ्चास्तिकायिक है। वह अनेकान्त की दृष्टि से शाश्वत भी और अशाश्वत भी है।^३ लोकसृष्टि ब्रह्मा आदि किसी ईश्वर की कृति नहीं, वह तो द्रव्यों का एक स्वाभाविक परिणामन है।

जैन-बौद्ध दार्शनिकों ने सृष्टि के सन्दर्भ में वैदिक दार्शनिकों के तर्कों का निम्न प्रकार से खण्डन किया है—

(i) कार्यत्व हेतु युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि उसके मानने पर ईश्वर भी कार्य हो जायेगा। फिर ईश्वरवाद का भी कोई निर्माता होना चाहिये। इस तरह अनवस्था दोष हो जायेगा।

(ii) जगत् यदि कृत्रिम है, तो कूपादि के रचयिता के समान जगत् का रचयिता ईश्वर भी अल्पज्ञ और असर्वज्ञ सिद्ध होगा। असाधारण कर्ता की प्रतीति होती नहीं। समस्त कारकों का अपरिज्ञान होने पर भी सूत्रधार मकान बनाता है। ईश्वर भी वैसा ही होगा।

(iii) एक व्यक्ति समस्त कारकों का अधिष्ठाता हो नहीं सकता। एक कार्य को अनेक और अनेक को एक करते हैं।

(iv) पिशाचादि के समान ईश्वर अदृश्य है, यह ठीक नहीं। क्योंकि जाति तो अनेक व्यक्तियों में रहती है, पर ईश्वर एक है। सत्ता मात्र से ईश्वर यदि कारण है, तो कुम्भकार भी कारण हो सकता है। अशरीरी व्यक्ति सक्रिय और तदवस्थ नहीं हो सकता।

(v) ईश्वर की सृष्टि यदि स्वभावतः रुचि से या कर्मवश होती है तो ईश्वर का स्वातन्त्र्य कहाँ रहेगा ? उसकी आवश्यकता भी क्या ? वीतरागता उसकी कहाँ ? और फिर संसार का भी लोप हो जायेगा।

(vi) स्वयंकृत कर्मों का फल उसका विपाक हो जाने पर स्वयं ही मिल जाता है। उसे ईश्वर रूप प्रेरक चेतना की आवश्यकता नहीं रहती। कर्म जड़ है अवश्य, पर चेतना के संयोग से उसमें फलदान की शक्ति स्वतः उत्पन्न हो जाती है। जो जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल यथासमय मिल जाता है।

१. विशेष देखिए, लेखक की पुस्तक 'बौद्धसंस्कृति का इतिहास', पृ० ११२-११८।

२. भगवतीसूत्र, २-१-१०।

३. वही, १३-४-४८१।

अतः ईश्वर को न तो जगत् का सृष्टिकर्ता कहा जा सकता है और न कर्मफलप्रदाता । सृष्टि तो अणु-स्कन्धों के स्वाभाविक परिणमन से होती है । उसमें चेतन-अचेतन अथवा अन्य कारण कभी निमित्त अवश्य बन जाते हैं, पर उनके संयोग-वियोग में ईश्वर जैसा कोई कारण नहीं हो सकता । अपनी कारण-सामग्री के संवलित हो जाने पर यह सब स्वाभाविक परिणमन होता रहता है । आचार्य अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र आदि जैन दार्शनिकों ने तथा नागार्जुन, आर्य-देव, शान्तिदेव, शान्तरक्षित आदि बौद्ध दार्शनिकों ने इस विषय को लगभग इन्हीं तर्कों को बड़ी गम्भीरता से प्रस्तुत किया है ।^१

इस प्रकार जैन-बौद्ध तत्त्वमीमांसा के उपर्युक्त संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा लगता है कि श्रमण संस्कृति की ये दोनों शाखाएँ प्रारम्भ में सामान्यतः वस्तु-तत्त्व के विषय में लगभग एक दृष्टिकोण से विचार करती हैं, पर उत्तरकाल में उनमें गंभीर से गंभीरतर भेद होते गये । उनके भीतर भी पारस्परिक भेद काफी पनपे । बौद्धदर्शन की शाखा-प्रशाखाओं में जितने अधिक आन्तरिक भेद हुए हैं, उतने जैनदर्शन में नहीं दिखाई देते । इस भेद को हम विकास की संज्ञा दे सकते हैं । विकास की यह धारा अलग-अलग गति लिये हुए भी वह कहीं-न-कहीं मूल सूत्र से बँधी रही है । मूल संस्कृति दोनों की एक होने से दोनों का अन्तर बहुत अधिक नहीं हो पाया । इस अन्तर का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत आलेख में परिचय रूप में ही प्रस्तुत किया जा रहा है ।

—अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय,
न्यूएक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर-१

१. विस्तार के लिए देखिये, लेखक की पुस्तकें—‘बौद्धसंस्कृति का इतिहास’, पृ० ११२ से ११८ और ‘जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास’, पृ० १५३-१५६ ।